

उपाचार्य जीवन-संस्मरण

लेखक :
मुनि सुशीलकुमार



राम चमक रहे भानु समाया

साधुमार्गी पब्लिकेशन

उपाचार्य जीवन-संस्मरण

(श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के
उपाचार्य श्री गणेशलालजी म.
का संक्षिप्त जीवन-परिचय)

लेखक :
मुनि सुशीलकुमार



राम चमक रहे भानु समान

प्रकाशक :
साधुमार्गी पब्लिकेशन

कृति :
उपाचार्य जीवन संस्मरण

लेखक :
मुनि सुशील कुमार

पूर्व प्रकाशक :
सम्यग् ज्ञान मंदिर, कलकत्ता

पूर्व प्रकाशन समय :
भाद्र कृष्णा ८, संवत् २०१६
२६ अगस्त १९५९

पुनः प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
साधुमार्गी पब्लिकेशन
अन्तर्गत - श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग,
श्री जैन पी.जी. कॉलेज के सामने, नोखा रोड,
गंगाशहर, बीकानेर - ३३४०१ (राज.)
दूरभाष - ०१५१-२२७०२६१

प्रकाशन वर्ष :
सितम्बर, २०१९

मूल्य :
₹ २५ (पच्चीस रुपये)

मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर

प्रकाशकीय

आज से लगभग 60 वर्ष पहले विक्रम संवत् 2016 में श्री जीवराज जी महाराज के सम्प्रदाय के श्री छोटेलाल जी म.सा. के शिष्य मुनि सुशील कुमार ने आचार्य (तत्कालीन उपाचार्य) श्री गणेशलाल जी म. सा. के जीवन पर आधारित एक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक का नाम रखा 'उपाचार्य जीवन संस्मरण'। तब इसका प्रकाशन किया था सम्यक् ज्ञान मंदिर ने।

उसी पुस्तक का हम पुनर्मुद्रण कर रहे हैं। पुनर्मुद्रित इस पुस्तक में किसी भी प्रकार का परिवर्धन, परिवर्तन, संशोधन नहीं किया गया है। अपनी विरासत को संजोने के लिए सब कुछ यथावत रखा गया है। हां, एक बात को हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि इस पुस्तक में आचार्य श्री का नाम श्री गणेशीलालजी प्रयोग किया गया है, जबकि सही रूप होगा गणेशलालजी।

इस पुस्तक में आचार्य श्री गणेशलालजी मसा. के जीवन की पूरी झांकी प्रस्तुत की गयी है। सामान्यतया झांकी दिखायी जाती है, देखी जाती है, पर यहां पाठकों का सामना शब्दों की झांकी से होगा। यह झांकी पाठकों को दर्शन करायेगी आचार्य श्री के धैर्य का। आचार्य श्री की ऊर्जा का। सेवा भावना का। आचार्य श्री के व्यक्तित्व की विराटता का। जयपुर से लेकर दिल्ली और संयुक्त चातुर्मास का। सोजत और भीनासर सम्मेलन का।

और भी बहुत कुछ मिलेगा इस झांकी में। इस पुस्तक के एक-एक पन्ने आपको चित्र की भांति दिखाई देंगे। ये शाब्दिक चित्र आचार्य श्री के जीवन की झांकी का दर्शन करायेंगे। इस पुस्तक का प्रकाशन हमारे लिए सौभाग्य है और पाठकों के लिए मौका अपने अतीत को जानने का।

संयोजक

साधुमार्गी पब्लिकेशन

अंतर्गत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

अहोभाव संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'उपाचार्य जीवन-संस्मरण' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी
कोमल कुमार, प्रकाश कुमार
अशोक कुमार, धर्मेन्द्र आंचलिया
बेगूं-पनवेल

अनुक्रमणिका

मानव-जाति	:	1
सन्त-परम्परा का उद्गम	:	4
स्थानकवासी सम्प्रदाय	:	7
जन्म	:	9
माता-पिता	:	11
शिक्ष और सगाई	:	13
पूज्य श्रीलालजी म. की भविष्यवाणी	:	17
मन की परोक्ष	:	21
महामारी का आक्रमण	:	23
श्री जवाहराचाय्र का साक्षात्कार	:	26
दीक्षा	:	29
साधना के पथ पर	:	31
शास्त्रीय अध्ययन	:	34
गुरुवर्य की परिचर्या	:	36
अनासक्ति का उद्भव	:	38
गुरोराज्ञा वलीयसी	:	41
संकट के समय	:	43
अद्भुत चमत्कार	:	51
अहिंसा-प्रतिष्ठापक	:	53
युवाचार्य-निर्वाचन	:	55
शिष्य नहीं, साधुत्व चाहिए	:	59
आचार्य श्री जवाहरलालजी म. का अंतिम काल	:	64
थली की ओर	:	67

भीड़ से दूर, एकान्त की ओट में	:	71
नेहरू और विनोबा से मिलन	:	72
जयपुर की ओर	:	74
प्रबल प्रचारक	:	77
दिल्ली-चातुर्मास	:	82
रोग का उदय	:	87
संगठन की ओर	:	93
सादड़-सम्मेलन के बाद	:	100
सोजत-सम्मेलन	:	102
शान्तिद्वत	:	105
संयुक्त चातुर्मास	:	108
आचार्य और उपाचार्य का औदार्य	:	111
रगल-पान	:	116
भीनासर-सम्मेलन और उपाचार्यश्री	:	117
व्यक्तित्व की विशिष्टता	:	120
उपसंहार	:	128

मानव-जाति

मनुष्य को संरक्षण और विकास के लिए केवल दो ही आश्वासन चाहिए। प्रथम, जीवन एवं जीवन के सहायक तत्त्वों की सुरक्षा और दूसरा, आध्यात्मिक प्रगति एवं विमुक्ति के उच्चतम ध्येय की प्राप्ति के लिए सच्चा और सरल पथ।

मनुष्य न केवल आत्मा है और न केवल शरीर ही। वह दोनों का सम्मिश्रित स्वरूप है। अतएव इन दो आश्वासनों की उसे अनिवार्य रूप से अपेक्षा रहती है।

समूचा जगत् उस दिन शान्ति की सांस लेगा, जिस दिन उसे मानव से, प्रकृति से और नियति की वक्रगाति से निर्भयता मिल जायगी।

मनुष्य उस दिन महान् होगा जिस दिन आध्यात्मिक समानता, सह अस्तित्व, समान शक्तिमत्ता तथा विश्वमैत्री का उसके अन्तःकरण में प्रस्फुरण होगा।

ग्रीस के सीज़र ने, परशिया के सिकन्दर ने, भारत के अशोक ने और अमेरिका के अब्राहम लिंकन ने मनुष्य-जाति को मनुष्य के आक्रमण से संरक्षण दिलाने का आश्वासन दिया था। योद्धा, शूरवीर, शासक और नेता आज तक जनता को सुरक्षा की गारंटी देकर ही विश्व-इतिहास की चमक बन कर जगमगाये हैं।

चीन के कन्फ़ुशियस और लुत्जे ने, ग्रीस के सुकरात और अरस्तू ने तथा ईरान के जरथुस्त तथा पैलस्टाइन के मूसा तथा ईसा ने एशिया के आध्यात्मिक जागरण में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया है। भारत के प्राचीनतम महर्षि भगवान् ऋषभदेव और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर सन्त परम्परा के सर्वाधिक सशक्त उन्नायक रहे हैं।

जगत् में महत्ता दो रूपों में प्रकट होती आई है:—

- (१) योद्धा के रूप में,
- (२) सन्त के रूप में,

योद्धा ने लौकिक महत्ता का प्रकाश किया है तो सन्त ने लोकोत्तर महत्ता का। योद्धा भौतिक बल के सहारे अपनी महत्ता का प्रकाश करता है तो महात्मा आध्यात्मिक शक्ति के बल पर अपनी महत्ता का सिक्का जमाता है।

योद्धा में सत्ता है, अहम् है, शस्त्र का विश्वास है, किन्तु किसी न किसी स्थान पर उसके परमार्थ का किनारा सकुचा जाता है। प्रेम की सीमा प्रेम के लिए अभिशाप बन जाती है।

स्वार्थ की सीमा कितनी ही महान् क्यों न हो, वह जहाँ समाप्त होगी, वहीं उसमें से घृणा की सड़ाँद उटेगी।

सन्तों में समर्पण है, समता है, विश्वमैत्री एवं विश्व-बंधुत्व का उन्नत आदर्श है। उनकी आकृति कितनी ही लघु क्यों न हो और साधन क्यों न स्वल्प हों; किन्तु निर्मलता गंगा सी, उन्नता हिमालय सी, गंभीरता सागर सी, शीतलता हिम सी और विश्व-कल्याण की इच्छा परवाने सी उनमें समाई रहती है।

सन्तों का प्रेम निश्चल, सरल, असीम तथा सच्चिदानन्द रूप होता है।

योद्धाओं से संरक्षण मिलता है, किन्तु प्रतिस्पर्द्धा का आतंक उसमें समाया रहता है; विनाश और विश्वंस के बुदबुदे उसमें उठते रहते हैं।

सन्तों से प्राप्त होनेवाले संरक्षण में परम शान्ति का आभास होता है, लोकोत्तर निराकुलता समाई रहती है।

परमाणु बम और उद्भजन बम के इस युग में योद्धा और शासक की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। आज जगत् को सन्तों का पथप्रदर्शन चाहिए। आधुनिक युग में विनोबा और गांधी जैसे भी सन्त-परम्परा के अमर उद्गाता रहे हैं। वस्तुतः संसार की सन्त-परम्परा शान्ति, सुरक्षा तथा विकास की दैवी सेना है।

सन्त-परम्परा का उद्गम

मनुष्य के लोभ की आकुलता ने सन्तोष की दैवी वृत्ति को महस्व प्रदान किया है और अहंकार की भावना ने समर्पण का मार्ग प्रशस्त किया है।

विश्व के प्राचीन इतिहास में मानव जाति के परम पिता भगवान् ऋषभदेव की कहानी आती है। श्रीमद्भागवत में उन्हें अष्टम अवतार भगवान् ऋषभदेव के रूपमें उद्धृत किया गया है। जैनधर्म ने उन्हें सर्वप्रथम तीर्थंकर—सन्त-परम्परा के अग्र-दूत—बृषभनाथ के नाम से स्मरण किया गया है। नाथपंथी उन्हें आदिनाथ कहते हैं। ईसाई और इस्लाम जगत में वे बाबा आदिम के नाम से पुकारे जाते हैं।

डाक्टर राधाकृष्णन ने अपनी 'फिलोसफी ऑफ इंडिया' में भगवान् ऋषभदेव को प्राचीनतम महापुरुष के रूप में उल्लिखित किया है।

इस प्रकार एशियाई धर्मों के आदि पुरुष भगवान् ऋषभदेव ही सन्त-परम्परा के आद्य पुरुष थे ।

सत्ता और सम्पत्ति से अलग, जीवन और जीवन की पार्थिव अभिलाषाओं से दूर आत्मा का जगत् निराला है। आत्मा की पूर्ण स्वरूप सिद्धि के लिए माया के प्रपंच से विलग होना पड़ेगा। आध्यात्मिक साधना भौतिक जिम्मेदारियों से विमुक्त हुए बिना संभव नहीं हो सकती। भगवान् ऋषभदेव ने यह तथ्य प्रारंभ में ही सोच लिया था। यही कारण था कि उन्होंने संसार के समक्ष दो विकल्प रखे थे—सागार दशा और अनगार दशा।

जगत् के पदार्थों पर ममत्व रखकर चलने वाला मानव-समूह सागार-अगारी-कहलाएगा और हिंसा, असत्य, स्तेय, व्यभिचार तथा परिग्रह से सर्वथा रहित व्यक्ति अनगार कहलाएगा।

संसार के सभी धर्मों ने साधु और गृहस्थ की इस परम्परा को और इसकी उपयोगिता को स्वीकार किया है।

भारतवर्ष में सन्त-परम्परा भगवान् ऋषभदेव से लेकर आज तक अबाध रूप से अपने निर्दिष्ट पथ पर चली आ रही है। जैन सन्तों की परम्परा आज भी जगत् के लिए प्रकाश का मीनार है, तप-त्याग और संयम का प्रतीक है तथा अहिंसा और अकिंचनता की अनुपम ज्योतिः ।

जन-परम्परा की धाराएं

उद्गम स्थल से नदी का प्रवाह एक अखण्ड धारा के रूपमें प्रवाहित होता है। किन्तु बीच में यदि बाधक चट्टान आ जाती हैं तो वही प्रवाह दो या अधिक धाराओं में विभक्त हो जाता है। आगे चल कर वह धाराएं मिल भी जाती हैं, परन्तु कभी सदा के लिए पृथक्-पृथक् मार्गों का अवलम्बन कर लेती हैं।

यही तथ्य धर्म-धारा के विषय में भी लागू होता है। समस्त धर्म-धाराएं मूल में एक थीं। उनका उद्गम स्थान एक प्राण था। किन्तु परिस्थितियों की चट्टानें आड़ी आईं और एक अखंडित धारा वस्त्र के नाम पर या मूर्त्तिपूजा के नाम पर, विचारविभिन्नता या सामूहिक असन्तोष की चट्टानों से टकरा कर विभिन्नमुखी बन गई।

मूल में जैनधर्म एक ही रूप में था परन्तु बाद में श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरहपंथी नाम से जो शाखाएं स्थापित हुई हैं, उनका मूल इन्हीं कारणों से निहित है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय

जैन-संघ में, भगवान् महावीर के निर्वाण से १७० वर्ष पश्चात् श्री भद्रबाहु और श्री स्थूलभद्र के श्रमणों में वस्त्र को लेकर विवाद आरंभ हुआ। साधु के लिए वस्त्र प्राण्य है या नहीं ? इसी प्रश्न पर श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का सूत्रपात हुआ।

वि० सं० १५३२ में लोकाशाह ने और १५६६ में आचार्य श्री जीवराजजी म० ने आगमानुसार मूर्तिपूजा एवं धार्मिक आडम्बर की अनावश्यकता अनुभव करते हुए गुणपूजा की पूर्णतः प्रतिष्ठा करनी चाहिए। परिणामस्वरूप श्वेताम्बर मूर्तिपूजक तथा श्वेताम्बर साधुमार्गी सम्प्रदायों की विभिन्नमुखी धाराओं का प्रवाह चला।

संवत् १८१५ में आचार्य रघुनाथजी म० तथा उनके शिष्य श्री भीखमजी में दया-दान के संबंध में चर्चा चली। मगर

भीखमजी इस बात पर अड़े रहे कि असंयमी की दया और उसे दिया जाने वाला दान एकान्त पाप रूप है। उसी समय से स्थानकवासी तथा तेरहपथ का भेद हुआ, जो आज तक चला आ रहा है।

हमारे चरितनायक उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज का सम्बन्ध स्थानकवासी सम्प्रदाय से है।

जन्म

उपाचार्य देव की जीवनगाथा आज के विज्ञान के युग से तनिक दूर जा पड़ती है। आपके जन्मकाल में और आज के यंत्र-युग में पर्याप्त अन्तर है। आज से ६७ वर्ष पहले के विश्व के मानचित्र में और आज की तस्वीर में काफी भेद हो चुका है। ६७ वर्ष पूर्व के अर्थात् वि० सं० १६४७ के स्वप्न, आदर्श, व्यवहार, सभ्यता, शिष्टाचार और मानवीय सिद्धान्त बहुत कुछ मोड़ खा चुके हैं। उस समय मनुष्य विश्वसंध और विश्वसंस्था के विषय में इतनी उग्रता और गंभीरता से नहीं सोच सकता था, जितना कि वह अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक संबंधों के लिए चिन्ताशील था।

इस पिछले युग में मानव ने व्यष्टि से समष्टि की ओर जो अभियान प्रारंभ किया है, उसमें संसार की महान् आत्माओं का भारी योगदान रहा है। वे महान् आत्मायें धार्मिक क्षेत्र से

हमारे सामने आयी और राजनीतिक क्षेत्र से भी। आध्यात्मिकता और भौतिकता इस युग के भी सबसे बड़े उन्नयन के माध्यम रहें हैं।

मानव-जीवन की व्यापकता के पंख पसारने में संतों की अनुपम सहायता रही है। हमारे श्रद्धेय स्वर्गीय पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज और उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी उपाचार्य श्री गणेशीमलजी महाराज स्थानकवासी सम्प्रदाय के ऐसे ही महान् उन्नायकों में से हैं।

उपाचार्यजी महाराज के नेतृत्व में स्थानकवासी समाज ने प्रतिक्षण बदलने वाले विश्वव्यापी घटनाचक्र में एवं धार्मिक जीवन की संघटना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। निश्चित है कि उनके जीवन में कुछ ऐसी असाधारण विशेषताएं अवश्य विद्यमान हैं जो हमारे लिए प्रेरणा का कारण बन सकती हैं।

मनुष्य के जीवन की गहराई में उतरने से मनुष्य के लिए अनन्त आत्मीयता अनुभव करने का भी अवसर प्राप्त होता है।

हां, तो उपाचार्य श्रीजी का संक्षिप्त जन्म-परिचय देना चाहें तो कह सकते हैं कि—

महाराज श्री का जन्म वि० सं० १६४७ की श्रावण कृष्णा तृतीया के दिन, महिमामयी मेवाड़ की राजधानी उदयपुर में हुआ था। इस प्रकार महाराणा प्रताप की कर्मवीरता और उपाचार्य श्रीजी की धर्मवीरता को जन्म देने का गौरव मेवाड़ को है, जिस पर देश और समाज को सात्विक अभिमान है।

माता-पिता

मानव का दैहिक पिण्ड माता-पिता के रक्त का समवाय है। मनुष्य के संस्कारों पर माता-पिता के विचारों का अलक्ष्य रूप से व्यापक प्रभाव पड़ता है। उसके बाद परिस्थितियां मनुष्य के निर्माण में सहायक होती हैं।

आज के नृवंश शास्त्रियों का मत है कि व्यक्ति के शारीरिक विकास और मानसिक विचारों पर माता-पिता, गोत्र तथा वंश का प्रभाव अवश्य पड़ता है; यद्यपि जन्म ग्रहण करने वाले बालक का स्वयं भी एक विशेष व्यक्तित्व होता है और उसके जीवन-निर्माण में उसके पूर्वकालीन चिरसंस्कार भी महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं।

उपाचार्य श्री के पिता का नाम श्री साहबलालजी और माता का नाम श्रीमती इन्द्रा बाई था।

आपके पितामह साहूकारी का धंधा करते थे। उस समय

रुपये गिनने की परिपाटी नहीं थी। अपितु नाप के एक कटोरे में भर कर तोल कर दिया-लिया करते थे। वस्तु का विनिमय वस्तु से हुआ करता था। वस्तु पर सिक्केका पंजा नहीं जमा था। मनुष्य की श्रद्धा उत्पादन और वस्तु पर अधिक थी, रुपयों पर नहीं। मगर धीरे-धीरे वस्तु की महत्ता घटती चली जा रही है और सिक्के का शासन स्थापित हो रहा है।

यदि साहबलालजी और माता इन्द्रा बाई का पूरा शब्द-चित्र हमें निर्माण करना हो तो जीवन के आदर्शों के समन्वय के प्रतीक रूप में हमें उनका उल्लेख करना पड़ेगा।

गृहस्थ जीवन में तीन चीजों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है—आजीविका, सुयोग्य परिवार और सामाजिक प्रतिष्ठा। श्री साहबलालजी को यह तीनों चीजें प्राप्त थीं। मेवाड़ के विशेष महनीय देवता एकलिंग हैं। उनकी पूजा आदि का समस्त भार राज्य वहन करता था। इसके लिए एक पृथक् विभाग था। श्री साहबलालजी उसी विभाग के ऑफिसर इन्-चार्ज थे। इस विभाग का अधिकारी होना मेवाड़ में गौरव की वस्तु माना जाता था।

शिक्षा और सगाई

मेवाड़ भारत का संरक्षित प्रदेश है। अरावली की पर्वत-श्रेणियां मेवाड़ की सुरक्षा पंक्तियां हैं। उनके कारण शत्रुओं के आक्रमण के निरोध में जहां योग मिलता है, वहां यातायात की सुविधाओं में भी बाधा पड़ती है। यही कारण था कि समूचे भारत में मुगल राज्य जम जाने के पश्चात् ही मेवाड़ की बारी आई।

परिस्थितियों की विकटता से मेवाड़ को अपेक्षाकृत अविकसित प्रदेश रहना पड़ा है, मगर इससे उसके प्राकृतिक सौन्दर्य में न्यूनता नहीं आई है। उदयपुर मेवाड़ का काश्मीर कहलाता है। भारतीय स्वाभिमान और क्षात्र तेज के प्रतीक राणाओं के तेजस्वी वंशजों की पिछले दिनों यही राजधानी रही है।

उदयपुर मेवाड़ का शिक्षा केन्द्र रहा है और अब भी है। प्राचीन प्रणाली के अनुसार शिक्षा की वहां सुन्दर व्यवस्था

थी। भारत के विद्याविशारदों को सदा से ही उदयपुर में संरक्षण मिलता रहा है।

हमारे चरितनायकजी की आरंभिक शिक्षा उदयपुर में ही सम्पन्न हुई। आप ५-६ वर्ष के शैशवकाल में ही पत्र-लेखन में निष्णात हो गये थे। स्थानीय विद्या-केन्द्र में आपने तत्परता के साथ अंकों और अक्षरों की शिक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि मेवाड़ की प्रादेशिक बोली राजस्थानी और उसमें भी मेवाड़ी है, किन्तु राजभाषा हिन्दी ही है। आपने बाल्यकाल में ही, उस युग के अनुकूल हिन्दी: उर्दू और अंगरेजी भाषाओं का अध्ययन अच्छा खासा कर लिया था।

पहले मेवाड़ में बच्चों को जीवन के प्रारंभिक काल में ही विद्या और विवाह—दोनों प्राप्त हो जाते थे। आपके विवाह की घटना बालविवाह की एक ज्वलंत घटना है। जब आप चार वर्ष के बालक थे, तभी उदयपुर के मेहता-परिवार की एक समवयस्क बालिका के साथ आपकी सगाई कर दी गई थी।

मेहता परिवार और आपके मारू परिवार में बहुत घनिष्ठता थी। यही कारण था कि श्री साहबलालजी को मेहता वंश के आग्रह के समक्ष झुकना पड़ा और अल्पवयस्क बालक-बालिका अज्ञात रूप में सगाई-संबंध में जुड़ गये।

दस-बारह वर्ष की उम्र में आप व्यावहारिक कार्यों की बारीकियां समझने लगे थे और १२-१३ वर्ष की अवस्था में

अपने पिता के साथ स्वतंत्र रूप से वैधानिक अर्जियां, प्रायेणा-पत्र आदि लिखने लगे थे।

चौदह वर्ष की उम्र में धूमधाम के साथ आपकी शादी कर दी गई।

आपके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ अनूठापन था कि चौदह वर्ष की उम्र में ही आपने सामान्यतया विद्याभ्यास, व्यापार तथा विवाहित गृहस्थ जीवन का दायित्व सफलताके साथ निवाहना प्रारंभ कर दिया था।

यद्यपि भारतीय आश्रम व्यवस्था के अनुसार यह आयु विद्यार्थी-जीवन की थी, किन्तु उस समय मेवाड़ में विद्या और विवाह दोनों साथ ही जोड़ दिये जाते थे। यही कारण था कि स्वास्थ्य एवं शारीरिक नियम के अनुसार विवाह का उचित अवसर न होने पर भी चौदह वर्ष की अविकसित अवस्था में ही आपको गृहस्थ का पूरा-पूरा लवादा पहना दिया गया।

वास्तव में आपका जीवन क्रमिक विकास का एक उज्ज्वल उदाहरण है। आपके जीवन में प्रगति और नवनिर्माण का विहान तो प्रस्फुटित हुआ है, किन्तु उसमें साहजिक व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है।

मध्यम श्रेणी के परिवारमें जन्म, निपुण बुद्धिशाली विद्यार्थी का जीवन, अल्प वय में प्रणय का दायित्व और फिर भी क्रमशः विकास के सोपानों पर अग्रसर होते जाना ! जैसे शीघ्र-शीघ्र सांसारिक दायित्वों को सफलता के साथ सम्पन्न

करके नियति द्वारा निर्दिष्ट पथ पर आरूढ़ होने की तैयारी चल रही हो ! किन्तु उस समय अदृष्ट की प्रेरणा को कौन समझ सकता था !

उपाचार्य श्री के जीवन में एक उल्लेखनीय विशेषता जो दृष्टिगोचर होती है, वह यह कि आपका जीवन क्रमशः परिस्थितियों की प्रेरणा से स्वयमेव ढलता चला गया है। आपको आकस्मिक संयोग, साहचर्य और वातावरण निरन्तर उन्नति की ओर ही अग्रसर करने में सहायक रहे हैं।

पूज्य श्रीलालजी म० की भविष्यवाणी

मानव को महत्ता उसके आन्तरिक जीवन में निहित तेजस्वी तत्त्वों से प्रस्फुटित होती है। एक वार उदयपुर में स्वर्गीय पूज्य श्री श्रीलालजी म० का चातुर्मास हुआ। जैनधर्म जीवन की प्रत्येक आवश्यकता तथा प्रत्येक उपभोग्य वस्तु पर धर्म के नियंत्रण पर बल देता है। जैन श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह प्रातःकाल में ही दिनभर में उपयोग में आने वाली समग्र वस्तुओं की सीमा बांध ले।

संयम और मर्यादा पर दृढ़ एवं सावधान रहना ही विवेक का मधुर फल है। सत्-असत् निर्णायक शक्ति का विकास ही ज्ञान का परमोद्देश्य है। सद्विचार और चिन्तन को आचरणगत बना लेना ही धर्म को वास्तव में अंगीकार कहलाता है।

चरितनायक के पिता श्रीसाहबलालजी जैनधर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाले श्रावक थे। आपकी धर्मक्रिया करने में भी गाढ़ी रुचि थी। जैनधर्म व्यक्तिगत आचार को पवित्र बनाये

बिना सामूहिक सदाचार की योजनाओं पर विश्वास नहीं करता।

समाज व्यक्तियों का समूह है और व्यक्ति समाज का एक घटक। समाज का सामूहिक आचार व्यक्ति-व्यक्ति के आधार पर ही निखरता है।

हां, तो साहबलालजी एक दिन वैराग्य के भावोद्रेक में तन्मय होकर बोल उठे—महाराज ! मैं भी संसार से विमुक्ति चाहता हूं। चारों ओर उलझनें हैं और सांसारिक समस्याएं बिखरी पड़ी हैं। यद्यपि मैं पारिवारिक और कौटुम्बिक दायित्वों से डर कर भागना नहीं चाहता, तथापि अन्तरतर में एक नूतन नाद उठ रहा है। अब यह परिवार और यह उत्तरदायित्व भवविमुक्ति में सहायक नहीं प्रतीत होते।

आचार्य प्रवर ने साधु-जीवन की विषमताओं का उल्लेख करते हुए कहा—जैन-साधु की साधना अति कठोर है। सुदृढ़ संकल्प और सहिष्णुता के बिना उसका यथावत् आचरण नहीं हो सकता।

इस धर्मवार्त्ता के समय हमारे चरितनायकजी भी अपने पिताजी के निकट ही आसीन थे। उन्होंने सुन रक्खा था कि भगवान् महावीर मायावी जगत् के किसी संकट से घबराये नहीं। उत्तर पाश्वाल की ओर जाते हुए महावीर को मार्ग के यात्रियों ने बहुतेरा रोका—साधो ! इधर मत जाओ। आगे भयानक विषधर चंडकौशिक सर्प रहता है। उसके दृष्टिनिक्षेप

से ही पशु, पक्षी, मनुष्य और वृक्ष—सब जल कर मरम हो जाते हैं।

भगवान् महावीर चाहते तो अपना रास्ता बदल सकते थे। किसी दूसरे सुगम एवं निरापद मार्ग से जा सकते थे। मगर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे उसी मार्ग पर आगे बढ़े, जहाँ चण्डकौशिक का निवास था। उनके मन में संकटों, दुःखों और उपसर्गों का भय नहीं था। भगवान् के पग सदा संकटों और तूफानों की ओर ही बढ़ते गये। उन्होंने दुःखों को आत्मिक वीर्य के विकास में सहायक माना। दुःख का साक्षात्कार किया। वे दुःखों के द्वन्द्व से मुक्त हो गये।

इसलिये चरित्रनायकजी ने कहा—जब महावीर डरे नहीं तो क्या महावीर की सन्तान दुःखों और संकटों से भय खाएगी ?

बच्चे के इन ओजपूर्ण शब्दों ने आचार्य देव के मन में ध्रुव और प्रह्लाद का तथा अतिमुक्तक और गजसुकुमार का चित्र अंकित कर दिया।

आचार्य श्री प्रेम की भाषा में, बच्चे के मन का टटोलने के लिए बोले—क्या तुम भी अपने पिता के साथ दीक्षा धारण करोगे ?

बच्चे ने बिना हिचकिचाये कहा—क्यों नहीं, मैं भी दीक्षा धारण करूँगा।

आचार्यदेव बच्चे की वाणी, साहस, तर्क एवं श्फूर्ति से

इतने प्रभावित हुए कि उन्हें स्वयं अपने ज्ञान के द्वारा बालक का भविष्य सोचना पड़ा। आचार्य देव ने साहबलालजी की ओर अभिमुख होकर कहा—साहबलालजी! आपका यह बालक किसी दिन इस जैन समाज का नेतृत्व संभालेगा। बच्चा होनहार है। मेरा मन इसका और समाज का उज्ज्वल भविष्य देख रहा है। इसके जीवन में वह समय भी आ सकता है कि यह बालक समाज की एकता का प्राणप्रतिष्ठापक और कठोर संयम-साधना का प्रतीक बनेगा। इसके शारीरिक चिह्न भी महा-पुरुषत्व के बोधक हैं।

साहबलालजी ने गुरुदेव के मुखारविन्द से अपने बच्चे के लिये ऐसी वाणी सुन कर अत्यन्त आनन्द मनाया था; किन्तु वह भविष्य वर्तमान कब बनेगा, यह उनकी चिन्ता का कारण था। यह सब कुछ देखने के लिए क्या उनकी जिंदगी इजाजत देगी? क्या इतना अवकाश मिल सकेगा?

साहबलालजी ऐसा ही कुछ सोचा करते थे।

मन की परीक्षा

आपकी एक बहिन, जो आपको अत्यन्त प्रिय थी, अकस्मात् मौत के पंजे में फँस गई। उस समय आप भलीभाँति समझ न पाये कि मेरी बहिन को क्या हो गया है ! जिन्दगी की मुस्करा-हट में पलने वाले सुकुमार बालक को कैसे मान हो सकता था कि जीवन का अन्तिम रूप मौत है !

जिस दिन उस बालिका की मृत्यु हुई, आपके पिताजी धर्म-स्थानक में, दया-व्रत अंगीकार करके बैठे थे। धर्मस्थानक में ही उन्हें बालिका की मृत्यु की सूचना दी गई। वह बड़े असमंजस में पड़ गये। दया-व्रत अंगीकार करने पर गृहस्थ धर्मक्रिया छोड़ कर घर नहीं जा सकता; मगर घर में लाश पड़ी है ! पिता और घर के मालिक के घर आये बिना शव कैसे उठ सकता है !

बड़ा धर्मसंकट था। सूझ नहीं पड़ता था कि आखिर क्या किया जाय ! अन्त में निश्चय किया—मैं जाऊँ अथवा न जाऊँ, मृत बालिका वापिस नहीं आ सकती। पौषधव्रत में जाना मेरे लिये ठीक नहीं।

इस विचार के परिणाम स्वरूप घर नहीं पहुंचे। तब स्वयं चरितनायकजी पड़ोसियों के साथ बर्षी को उठाकर श्मशान की ओर चल पड़े।

श्मशान तक तो जा पहुंचे, मगर लकड़ियां श्मशान घाट से बहुत दूर थीं। अन्तिम संस्कार के लिए गये लोग अगर लकड़ियां लेने जाते हैं तो शव के समीप कौन बैठे !

चरितनायकजी यद्यपि बाल्यावस्थाके कारण ऐसे व्यवहारों से परिचित नहीं थे, फिर भी आपने लोगों के असमंजस को समझ लिया। आपने निर्भीक वाणी से कहा—चिन्ता करने की बात नहीं। आप लोग जाइए। शव के पास मैं बैठूंगा और देखभाल करता रहूंगा।

अंधेरी रात ! श्मशान घाट। डरावना सूनापन। तिसपर सुकुमार बाल्यावस्था। मगर आप निर्भीक और निश्चल भाव से अपनी बहिन के शव के सन्निकट बैठे रहे। उस समय उस शान्त एकान्त में आपके मन में कैसी-कैसी विचार-लहरियाँ उत्पन्न हुई होंगी, यह एक कुतूहल का विषय है।

मेवाड़ के वीरों के दिल तो इस्पात से निर्मित होते थे, किन्तु एक सुकुमार अल्पवयस्क बालक का दिल भी फौलाद से बना है, यह उसी दिन मालूम पड़ा।

वास्तव में आप बचपन से ही सदा निडर और निर्भीक रहे हैं। आपका अबतक का समग्र जीवन इसी तथ्य को अभिव्यक्त करता आ रहा है।

महामारी का आक्रमण

भारतवर्ष पर महामारियों के संकट बहुत बार आये हैं, किन्तु प्लेग की जो महामारी आई, वह अपने ढंग की भीषण ही थी। जनता उसका स्मरण करके आज भी भयभीत हो उठती है। देश का कोई विरला ही परिवार बचा होगा, जिस पर प्लेग की विकराल छाया न पड़ी हो।

उस समय उदयपुर में भी प्लेग का भयानक आतंक छाया हुआ था। प्लेग के पूर्व माता-पिता का स्वर्गवास हो गया और उस प्लेग के विकराल उदर में चरितनायकजी की धर्मपत्नी भी समा गयी। केवल आप बचे रह गये उन सब का शोक मनाने के लिए।

अदृश्य शक्ति महापुरुष का निर्माण करने के लिए किस प्रकार वातावरण का निर्माण करती है: यह एक ऐसा रहस्य है जिसे मनुष्य आज तक पूरी तरह नहीं समझ पाया।

माता, पिता और पत्नी के स्वर्गवास से आपकी जिन्दगी के स्वप्न टूट गये। मायावी प्रपंच की नंगी तस्वीर आपके सामने स्पष्ट झलक उठी।

विजली की क्षणभंगुर आभा, कहती—देखो आओ, तेरे-मेरे जीवन में है कितना भेद बताओ। जलबुद्बुद् मानों दुनिया को अमर सीख देता है— 'मौत तभी से ताक रही जब जीव जन्म लेता है।'

संसार असार है। जन्म और मरण के मुहानों में फँसा संसार थपेड़े पर थपेड़े पर खा रहा है। कौन जानता है, अगला श्वास आएगा या नहीं ! यह जीवन पानी के बुलबुले के समान कब समाप्त हो जायगा !

जीवन की अमर आशा और मृत्यु का विकराल खेल आपके सामने है। मृत्यु जीवन पर विजयी होती है, यह तो प्रत्यक्ष ही है; परन्तु महान पुरुषों का जीवन मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, यह भी एक तथ्य है, जिसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

पड़ोसियों और नाते-रिश्तेदारों का विचार था कि उजड़ा घर फिर बसाया जाय। इस अंधेरे घर में फिर दीप जलाये जाएँ, वाद्य बजाए जाएँ तथा आशा और इच्छा के तूफानों की माया में फिर विहार किया जाय। मनुष्य का मन ही तो है ! वह क्षण-क्षण में अपना चोला बदलता रहता है ! किसी के अन्तिम संस्कार में सम्मिलित होते समय मनुष्य के मन की

क्या अवस्था होती है और फिर दुनियादारी के चक्कर में फँस कर वही मन कैसा बन जाता है।

मृत्यु और परिवार शून्यता के कारण आपके चित्त को जो व्यथा पहुँची थी, समय बीतने पर वह भी बीत गई—शान्त हो गई। वैराग्य फिर राग के नीचे तिरोहित हो गया। योग पर भोग की और संयम पर इच्छा की विजय हुई। सगे-संबंधियों के समझाने-बुझाने से आपके मन में पुनः विवाह करने और जिन्दगी के अधूरे सपने पूरे करने की बात बैठ गई।

श्री जवाहराचार्य का साक्षात्कार

वि० संवत् १९६२ में आचार्यदेव श्री जवाहरलालजी म० का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। आचार्य श्री साधु परम्परा में एक महान् क्रान्तिकारी आचार्य थे। उनकी विचारधारा क्रान्ति के पंखों में उड़ा करती थी। श्रमणसंघ की आचार्य परम्परा में राष्ट्र और धर्म का क्रान्तिदर्शी आचार्य, इस शताब्दी में आपकी तुलना में कोई दूसरा नहीं हुआ। वह प्रखर प्रतिभा, जाज्वल्यमान तेज और प्रबलतर संकल्पशक्ति के धनी थे। सौभाग्य से आचार्य देव का उदयपुर में चातुर्मास हो गया।

चरित्रनायकजी के अन्तःकरण में धर्म प्रीति जन्मजात थी। आचार्य श्री के सान्निध्य से उसका और अधिक विकास हुआ। आप प्रतिदिन धर्मोपदेश श्रवण किया करते थे। धर्म गंगा की विमल शीतल धाराएं आपके हृदय में लहराने लगीं।

एक दिन आचार्य श्री जवाहरलालजी म० को विदित हुआ

कि माता, पिता और पत्नी की मृत्यु के पश्चात् गणेशीलालजी त्यागमय साधु जीवन व्यतीत करने के इच्छुक हैं, किन्तु उनके सांसारिक मित्रों और सगे-संबंधियों ने उन्हें फिर सम्मोहित कर लिया है।

समय पाकर आचार्य श्री ने व्याख्यान में संसारकी क्षण-मंगुरता का चित्र खींचा और कामभोगों की विडम्बना का वर्णन ऐसे मार्मिक एवं हृदयग्राही शब्दों में किया कि आपका सुषुप्त वैराग्य फिर जागृत हो गया। जो लहर शान्त हो गई थी वह उपदेश के प्रभंजन से पुनः उत्पन्न हो गई।

जैनधर्म संसार को मायामय नहीं मानता, परन्तु काम-भोगों के क्षणिक आनन्द को दुःखद और श्रेयोविघातक अवश्य कहता है।

यौवन की मादकता और भोगाभिलाषो मन के रंगीन स्वप्न मनुष्य को ले उड़ते हैं। मगर श्रमण महावीर ने भोग पर त्याग को महत्त्व प्रदान किया है। सच्चे सुख की यदि कोई कुंजी है तो वह स्वात्मरमण ही कहा जा सकता है।

हाड़-मांस के पुतले पर निर्भर भोग किस श्रण धोखा दे जायेंगे और कब मनुष्य को पल्लताना पड़ जायगा, नहीं कहा जा सकता।

आचार्य देव के धर्मोपदेश का यही आशय था। उसे सुन कर श्री गणेशीलालजी की आत्मा प्रबुद्ध हो उठी। इन्द्रिय-विषयों की निस्सारता और उन्हें भोगने की अभिलाषा करने

बाले चित्त की क्षुद्रता आपकी दृष्टि के सन्मुख आ गई। इसके बाद जब प्रसंगवश एकान्त में उपदेश सुना तो आपके मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह अटल संकल्प के रूप में तत्काल परिणत हो गया। फलस्वरूप आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा और चौविहार खंध को उभी समय स्वीकार कर आपने साधुव्रत अंगीकार करने और, पराधीन सुखों का परित्याग कर देने का निश्चय कर लिया।

दीक्षा

एक शुभ दिन था जब आपका जन्म हुआ। फिर विद्यालय में छात्र के रूप में प्रविष्ट हुए। मेहता-परिवार की एक कन्या का पाणिग्रहण किया। प्लेग के पूर्व तथा प्लेग की महामारी के भीषण उदर में प्रायः सारा परिवार समा गया। सोलह वर्ष की कोमल वय में ही आपने जीवन की कई अनुभूतियाँ प्राप्त कर लीं। व्यापार किया, गृहस्थी देखी, सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर ली। अब आवश्यकता थी भारत के श्रेष्ठ आध्यात्मिक तत्त्व का साक्षात्कार करने की। सौभाग्ययोग से पूज्य श्री जवाहर-लालजी महाराज का वरद हस्त भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार आपके जीवन-चित्रपट के दृश्य बड़ी शीघ्रता के साथ पलटते चले गये।

आचार्य देव के सान्निध्य में सं० १९६२ की मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा के शुभ मुहूर्त्त में आपकी मुनि दीक्षा संपन्न हुई। आपने

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों को आजीवन पालन करने की भीष्म प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली।

श्यामवर्ण किन्तु सुकुमार और ओजस्वी, मध्यम कद एवं मांसल तथा परिपुष्ट देह संयम की असिधारा पर कसी जाने लगी।

संयम साधना में मन के मोह को जीत लेना ही सबसे बड़ा काम है। मन में अनासक्ति की प्रतिष्ठा कर लेना ही संयम की साधना का ध्येय है। यह ध्येय दीक्षा लेते समय ही आपके सामने आदर्श के रूप में उपस्थित हो गया। आचार्य प्रवर श्री जवाहरलालजी म० ने आपको दीक्षित किया। वस्तुतः आप उन्हीं के शिष्य थे। आचार्य श्री को आपसे अत्यधिक प्रेम था। किन्तु शिष्य बनाते समय आचार्य देव ने अपने गुरु भाई श्री मोतीलालजी म० की नेत्राय में ही शिष्य बनाया। आसक्ति-हीनता का इससे बढ़कर और क्या उदाहरण हो सकता है ?

आज शिष्य लोलुपता किस सीमा तक बढ़ी हुई है और शिष्य बनाने के लिये क्या-क्या खेल खेले जाते हैं, यह बात छिपी हुई नहीं है। ऐसी अवस्था में आचार्य श्री ने जो स्पृहणीय और भव्य आदर्श उपस्थित किया, वह वास्तव में उनकी महत्ता के अनुरूप ही था। आचार्य प्रवर की वह अनासक्ति विरासत के रूप में हमारे चरितनायकजो को भी प्राप्त हुई है।

साधना के पथ पर

जैन-साधु की यह सामान्य चर्या है कि वह रेल, मोटर, गाड़ी, हाथी, घोड़ा आदि किसी भी यान या वाहन का उपयोग न करके पैदल ही विहार करता है। अपना भार उसे स्वयं उठाना पड़ता है। ग्राम या नगर में जाकर निर्दोष भिक्षा तथा प्रासुक जल की स्वयं ही गवेषणा करनी पड़ती है।

सम्पूर्ण जगत् गतिशील है। स्थिरता के लिए कहीं अवकाश नहीं। जड़ हो अथवा चेतन, निरन्तर, पल भर की भी प्रतीक्षा किये बिना वर्तमान से नाता तोड़ कर भविष्य का आलिंगन करने के लिए बढ़ा चला जा रहा है। दिन पर दिन और रात्रियों पर रात्रियां व्यतीत हो रही हैं। जीवन की अनमोल निधि लुटी जा रही है, मगर इस रहस्यमय ढंग से कि हममें से बहुत थोड़े लोग ही उसे जान पाते हैं।

तो दिन-दिन और दिन-दिन करते चातुर्मास का काल

उपाचार्य जीवन-संस्मरण

समाप्त हो गया। गुरुदेव के साथ आपको भी विहार करना था अपनी सामग्री अपने आप उठा कर। विहार का वही पहला दिन था। सुकुमार कंधों को स्वल्प-सा भार भी असह्य था। चलना उससे भी कठिन और फिर नंगे पैर !

फिर भी चरितनायक मन के साहस और संकल्प के सहारे चल पड़े। मगर तन ने मन के साथ पूरा सहयोग नहीं किया। पैरों में फफोले पड़ गये और कंधों पर गांठ दंध गई। शरीर लकड़ी की तरह अकड़ गया। पिंडलियों में दर्द उठने लगा। इस प्रकार अंग-अंग की प्रबल पीड़ा आपको पीड़ित करने लगी। आपने मौन भाव से उसे सहन कर लिया, मगर साथी संतों से आपकी पीड़ा न छिप सकी !

जैनधर्म में सेवा को वही महत्त्व प्राप्त है जो स्वाध्याय और ध्यान को। फिर नवदीक्षित मुनि की सेवा को तो और भी महत्त्व प्रदान किया गया है।

आपके साथ जो सन्त थे, वे विशेष रूप से सेवाभावी थे। पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज जैसे महान मनस्वी सन्त के सान्निध्य में रहने वाले साधु कर्तव्य कुशल और सेवाभावी न हों यह कैसे संभव था ? उन्होंने आपके पैर दवाएँ, तेल मलकर कंधों की गांठों को मसला। इससे वेदना कुछ कम हुई। पर शारीरिक वेदना के कारण आप तनिक भी व्याकुल न हुए। उस समय भी आप पूर्ण रूप से शान्त थे।

आचार्यदेव विहार करते हुए पूज्य श्रीलालजी म० की सेवा

में पहुंचे। पूज्य श्रीलालजी म० की आपके विषय में बहुत ऊंची धारणा थी। ज्योंही उन्होंने साधु के वेष में आपको देखा, ऋट गुरुदेव श्री जवाहरलालजी म० से कहा—जवाहर! इन छोटे मुनि गणेशीलाल को खूब पढ़ाओ। इनको पढ़ाना कल्पवृक्ष का सिंचन करना है।

गुरुवर जवाहरलालजी म० को आचार्य देव का यह कथन इतना उपयुक्त प्रतीत हुआ कि २३ चातुर्मास में साथ रखकर चरितनायक को अपने अगाध अनुभव की विरासत प्रदान की।

आज के स्वच्छन्दता के इस युग में २३ वर्ष का साहचर्य एक बड़ी चुनौती है। हरेक उसे स्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु असाधारण पुरुषों के व्यवहार में असाधारणता होती ही है!

शास्त्रीय अध्ययन

शास्त्रों के विधान के अनुसार विद्यार्थी को द्वादश वर्ष पर्यन्त उपाध्याय के समीप और इतने ही वर्ष तक आचार्य के निकट रह कर विद्याध्ययन करना चाहिए। इस विधान का आपने सम्यक् प्रकार से पालन किया। आपने तेईस वर्ष पर्यन्त युवाचार्य और फिर आचार्य श्री जवाहरलालजी म० के अन्ते-वासी होकर समीचीन रूप से विविध शास्त्रों का रहस्य हृदयंगम किया। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं का तथा व्याकरण, साहित्य, न्याय, अध्यात्म आदि अनेक विषयों का तलस्पर्शी ज्ञान अर्जन किया।

चारित्र संबंधी विधि-विधान को जानना आवश्यक और उपयोगी है, परन्तु पर्याप्त नहीं। जान लेने मात्र से जीवन की ऊँचाइयाँ प्राप्त नहीं होतीं। इसके लिए आवश्यक है कि वह विधि-विधान आचरण में लाये जाएँ। आपके जीवन की भव्यता और सुन्दरता का यही रहस्य है कि आपने शास्त्रों के गहन मर्म को ज्ञान से भी और चारित्र से भी पाया है।

विद्या और व्यवहार की अद्भुत एकरूपता का दर्शन आपके जीवन में पाया जाता है।

पूज्य श्री जवाहरलालजी म० विद्याभ्यास कराने पर बहुत बल देते थे; परन्तु विद्या भी सिंहनी के दूध की तरह सोने के पात्र में ही टिक सकती है। पूज्य जवाहरलालजी म० की छत्र-छाया में रह कर अनेक संतों ने विद्याभ्यास किया किन्तु जो सरलता, निरभिमानता और दिव्यता आपके जीवन में चमकी है, वह अन्यत्र ऋषिगोचर नहीं होती।

‘विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय माशे वधिष्ठ अहमस्मि।’

यह एक वैदिक उपाख्यान है। इसमें बतलाया गया है कि विद्या बहुतों के पास गई; मगर किसी के पास असल था तो कोई अहंकार में ग्रस्त था। विद्या उन्हें अपात्र जानकर निराश होकर अन्त में ब्राह्मण के पास गई। वहां जाकर बोली—ब्राह्मण, मेरी रक्षा कर। मैं तुझे प्रकाश दूंगी। ब्राह्मण ने विद्या की शर्त पूरी की। वह उसीके पास रहने लगी।

भूलना नहीं चाहिए कि यहां ब्राह्मण एक जाति बोधक नहीं, अपितु सत्य और अहिंसा के पथ पर चलने वाला निष्ठावान व्यक्ति ही सत्ता ब्राह्मण कहलाता है।

आशय यह है कि विद्या वहीं चमकती है जहां सरलता, आज्ञाकारिता एवं सत्ता और सम्पत्ति के प्रति निरपेक्षता है।

हमारे चरितनायकजी के जीवन में जो विद्या का आलोक और सदाचार का स्पृहणीय सौरभ भरा है, वह इस उदण्ड और महत्वाकांक्षी युग के लिए एक सुन्दरतम वरदान है।

गुरुवर्य की परिचर्या

एक बार आपके (नेश्राय) गुरु तपस्वी श्री मोतीलालजी महाराज रोगग्रस्त हो गये। उस समय आपने अपनी समस्त शक्तियाँ उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए समर्पित कर दीं। यद्यपि रोगी की सेवा करना अत्यन्त कठिन कार्य है और उसे यथोचित रूप से सम्पन्न करने के लिए मन की इच्छाओं का संयमन, वाणी का नियंत्रण और शरीर का भी उत्सर्ग करना आवश्यक होता है, मगर आपमें सेवा का गुण निसर्गप्रदत्त है।

आप तन, मनसे गुरु-शुश्रूषा में जुट गये। इस्ती की बीमारी थी। तपस्वीजी के वस्त्र मल से भर जाते और आप निर्भय भाव से स्वयं उन वस्त्रों को स्वच्छ करते थे। इस प्रकार गहरी निष्ठा और प्रीति के साथ आपने सेवा का दायित्व निभाया। दूसरे विद्यार्थी सन्तों का भी आपको सहयोग प्राप्त था, परन्तु सेवाकार्य में आप लेशमात्र भी परमुखापेक्षी नहीं थे।

आपकी सेवाभावना गुरुजनों तक ही सीमित नहीं थी। आप सदैव अपने त्रिवार्यी सन्तों का भी पूरा ध्यान रखते थे। अपने प्राणों को संकट में डालकर भी अपने साथियों के संरक्षण की सजीव कला का विकास आपके जीवन में स्पष्ट परिलक्षित होता था।

एक बार आप सतपुड़ा पर्वत पार कर रहे थे। बीचमें वीहड़ जंगल पड़ता था। दरिंदे शेरों की चिंथाड़ से जंगल बड़ा ही भयावना लगता था। दो संत श्री श्रीमलजी म० तथा श्री जेठ-मलजी म० आपके साथ थे। आगे-आगे आप और पीछे-पीछे दोनों सन्त खले जा रहे थे।

अचानक आपकी दृष्टि दो खूंखार शेरों पर पड़ी। केवल चालीस-पचास कदम का फासला था। दोनों शेर सामने थे। आप स्वयं निर्भय रहे किन्तु अपने साथी सन्तों के लिए चिन्तित होकर खड़े हो गये। आपने सोचा—वे सन्त कहीं डर न जाएं। जब सन्त आपके समीप पहुंचे तो आपने उन्हें दिशा-निर्देश करते हुए उन जंगल के बादशाहों की ओर इंगित किया। इन वन्य हिंस्र पशुओं के विषय में जानकारी करवाते समय आप स्वयं उनकी ओर खड़े रहे और सन्तों को अपनी ओट में रक्खा।

वास्तव में आपका मौज्जय अद्भुत है। आपकी कर्त्तव्य-निष्ठा की सजगता विरल ही मिल सकती है।

अनासक्ति का उद्भव

एक दिन आपके चित्त में एक नवीन विचारधारा उत्पन्न हुई। उत्तराध्ययनसूत्र में साधु का एक विशेषण आया है— 'संयोगा विष्णुमुक्त्स ।' आशय है—साधु को संयोग से सर्वथा मुक्त होना चाहिए; क्योंकि—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।

जोव को जगत् में होने वाले दुःखों का मूल कारण संयोग है। अतएव असंगता दुःखमुक्ति का मार्ग है।

मनुष्य वैराग्य से प्रेरित होकर साधु तो बन जाता है और गृहस्थावस्था के संयोग से छुटकारा पा लेता है, परन्तु साधु अवस्था में नये संयोग उत्पन्न हो जाते हैं। साधुओं में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध पितृ-पुत्र-संबंध का सा रूप ग्रहण कर लेता है। गौतम स्वामी के मन में भगवान् महावीर के प्रति अगाध स्नेह था। यद्यपि वह स्नेह निःस्वार्थ और निष्काम था, तथापि केवलज्ञान में बाधक ही बना रहा।

आपने सोचा—पूर्ण असंगता की प्राप्ति के लिए साधु बन जाने पर शिष्य परम्परा का सर्वथा त्याग क्यों न कर दिया जाय ? मैं शिष्य और सत्ता के संग-बन्धन से विमुक्ति क्यों न प्राप्त कर लूँ ? इससे मेरा लक्ष्य सन्निकट से सन्निकटतर हो जायगा ।

इस प्रकार अनासक्ति और एकत्व की एक प्रबल तरंग आपके मन-मानस सरोवर में तीव्रता के साथ उठी । उसी समय आप गुरुदेव के समीप जा पहुंचे । विनम्र भाव से प्रार्थना की—भंते ! मैं अपने जीवन में न किसी को शिष्य बनाऊँ और न कभी कोई सामाजिक पदवी ग्रहण करूँ—ऐसा विचार मेरे मन में उठ रहा है ।

उस समय आपके सौम्य मुखमंडल पर अनूठी आभा चमक रही थी और तंत्रों में आत्मसमाधि की अमर आकांक्षा स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रही थी ।

आचार्य अपने शिष्य का औदार्य और निस्पृहभाव समझ कर गद्गद् हो उठे । बोले—‘गणेश ! व्यक्तिगत रूप से तुम्हारी भावना उच्च और पवित्र है, किन्तु जैन-संघ के अधिकार-क्षेत्रकी मर्यादा को उल्लंघन करने का तुम्हें अधिकार नहीं है । भविष्य में आचार्य पदवी और शिष्य परम्परा तुम्हें स्वीकार करनी पड़े तो वह संघ की इच्छा के अनुसार होगा । इस विषय में कोई निर्णय करना तुम्हारा अकेले का काम नहीं । संघकी आवश्यकता

और प्रार्थना पर तुम्हें ध्यान देना होगा। अतएव इस प्रकार के विचार करना उपयुक्त नहीं है।

गुरुदेव का यह आदेश आपके लिए पर्याप्त था। मन में अनासक्ति की विमल धारा अब भी बह रही थी, किन्तु गुरु महाराज की आज्ञा के समक्ष आप नतमस्तक हो गये।

इस घटना से आप संघ की महत्ता को विशेष रूपसे अनुभव करने लगे। आपने सोचा—साधु जीवन की साधना आत्मगत तो है ही, किन्तु वह संघनिरपेक्ष नहीं हो सकती। संघके संरक्षण और हित के लिए अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाओं को त्याग देना भी साधु-साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आचार्य भद्र-बाहु और सिद्धसेन दिवाकर आदि महान समर्थ आचार्यों की जीवन-घटनाओं से संघ की आज्ञा का महत्त्व समझा जा सकता है।

गुरोराज्ञा वलीयसी

गुरु की सेवा में रहने वाला शिष्य 'अन्तेवासी' कहलाता है। हमारे चरितनायक सच्चे अर्थ में अन्तेवासी थे। गुरु की आज्ञा के अनुसार चलना आप अपना सर्वोपरि कर्तव्य मानते थे। आपके साधु-जीवन के लगभग सैंतीस वर्ष गुरुदेव के सान्निध्य में ही व्यतीत हुए हैं। आज के युग में ३७ वर्ष तक गुरु की आज्ञा में ही व्यतीत करना और गुरु को सदैव सन्तुष्ट रखना साधारण बात नहीं है। मगर आपकी विनम्रता, भक्ति और कर्तव्यपरायणता इतनी उच्चकोटि की है कि आप पूर्ण रूप से गुरु का प्रसाद पाने में सफल हुए। आपके जीवन का यह आदर्श युग-युग में स्मरणीय रहेगा।

चातुर्मास-काल साधुओं के लिए एक लम्बा स्थिरवास का काल है। भारत के महात्माओं और ज्योतिर्विदों ने काल की कहानी के शुभाशुभ क्षणों को अनुमान से जानने की कला

बतलाई है। उसे मुहूर्त्त-ज्योतिष कहते हैं। प्रायः साधु भी चातुर्मास के निमित्त नगर प्रवेश करते समय मुहूर्त्त देख लिया करते हैं। भगर आपने ३८ वर्ष पर्यन्त गुरु-आज्ञा को ही मुहूर्त्त समझा। चाहे तिथिक्षय हो या रिक्ता तिथि हो, चौघड़िया असुकूल हो अथवा न हो, नक्षत्र विपरीत और योग प्रतिकूल हो, दिशाशूल हो या चन्द्रमा और योगिनी का वास पीठ पीछे हो, आपने इसकी कभी चिन्ता नहीं की। न कभी मुहूर्त्त निकलवाया और न कभी समय का हिसाब लगाया। आपकी एक ही धारणा थी—गुरु की आज्ञा में ही मेरे लिए शुभ मुहूर्त्त और सन्मुख चन्द्रमा है।

व्याख्यान करते समय गुरुदेव कभी टोक देते तो आप उसी समय असावधानी के लिए क्षमायाचना करते और कृत-ज्ञतापूर्वक उनकी सूचना को अंगीकार करते। कदाचित् कोई श्रोता व्याख्यान के बीच के हस्तक्षेप की चर्चा आपके समक्ष करता तो आप ऐसे सुयोग्य शिक्षक गुरु की प्राप्ति को अपना अहोभाग्य समझते और गुरु के प्रति महान् भक्तिभाव व्यक्त करते थे।

संकट के समय

साधु के जीवन में आर्थिक या राजनीतिक संकट के लिए कोई अवकाश नहीं। हाँ, कभी-कभी विपरीत मनोवृत्ति वाले लोगों का जमघट अवश्य आत्मसमाधि में विघ्न उपस्थित कर देता है।

आचार्यवर्य श्री जवाहरलालजी म० का व्यक्तित्व दिव्य था। उनकी प्रतिभा असाधारण थी। हृदय पलट देने वाली गर्जना और प्रतिपाद्य विषय की तर्क की तूलिकाओं से साकार तस्वीर खड़ी कर देने वाली वाणी के वह धनी थे। जिस किसी विपय को लेते, उसकी अधाह गहराई में उतर जाते।

आचार्यश्री ने राजस्थान और मालवा के जनपथों पर अधिक विहार किया था। मगर राजस्थान का एक भूभाग, जो थली या स्थली प्रदेश के नाम से प्रसिद्ध है, स्थानकब्राम्सी साधुओं के चरणन्यास से वंचित था। एक बार आचार्य महा-राज ने दया और दान का वास्तविक स्वरूप वहाँ की जनता

को समझाने के लिए थली की ओर विहार किया। चरितनायक पंडितरत्न श्री गणेशीलालजी महाराज भी साथ थे। थली में तेरहपंथी गृहस्थों के ही अधिक घर हैं, अतः थली प्रान्त का विहार बड़ा विषम और कठिनाइयों से परिपूर्ण था।

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व तेरहपंथ सम्प्रदाय का विकास स्थानरुवासी सम्प्रदाय में से ही हुआ है। दया और दान के विषय में मतभेद होने के कारण भीखमजी आदि कुछ साधु सम्प्रदाय से पृथक् किये गये। जैनधर्म के नाम पर अपनायी गई संकीर्ण मनावृत्तियों और शास्त्रविरुद्ध मान्यताओं का यहां वर्णन करना अभीष्ट नहीं, फिर भी आचार्यप्रवर जवाहर तथा पूज्य श्री गणेशीलालजी स० की जीवनी लिखते समय, घटनाक्रम से यह अवांछनीय प्रसंग पृथक् नहीं किया जा सकता। कुछ लोग इन प्रसंगों को विरोधियों के विरोध के रूप में अंकित करते हैं, किन्तु मेरी मान्यता है कि जैन साधु यदि अपनी वाणी और अपनी लेखनी से आलोचक को विरोधी और आलोचना को विरोध का रूप प्रदान करता है तो वह अयथार्थ वस्तुस्वरूप प्रकट करने के कारण साधुत्व का अधिकारी नहीं है।

तथ्यपूर्ण आलोचना के उत्तर में यह कहना कि—

जो करे हमारा विरोध,

हम समझें उसे विनोद।

विरोध में अविरोध ढूंढना और आलोचना में से सत्य निकालना हमारा उद्देश्य होना चाहिए। उसे विनोद कह कर

लपेक्षित करना आत्मवंचना है, दंभ है अथवा अहंकार हो सकता है। अनेकान्त का अनुयायी हर्गिज ऐसी हरकत नहीं करेगा।

थली प्रदेश तेरहपंथ के अनुवायियों का दुर्ग माना जाता है। वहाँ पहुँचने वाले अन्य सम्प्रदाय के जैन साधु को भी प्रायः वे सहन नहीं करते। यही नहीं, उसके प्रति अभद्र व्यवहार भी करते हैं, जिससे ऊब कर वह उस प्रदेश को जल्दी से जल्दी छोड़ दे। इस व्यवहार के पीछे किसका हाथ और समर्थन होता है, इस गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल इतना ही बतलाना है कि तेरहपंथी साधु के अतिरिक्त किसी अन्य सम्प्रदाय के जैन साधु का थली में प्रवेश करना अनेक प्रकार के ऋष्टों को आमंत्रित करना है। फिर भी भगवान् महावीर की पावन जीवनी से प्रेरणा पाकर आचार्य श्री जवाहरलालजी म० थली प्रदेश की जनता को धर्मसंदेश देने के हेतु वहाँ पहुँचे। सरदारशहर में आपके प्रभावशाली भाषण एवं प्रचार की बहुत सुन्दर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। बहुत-से सज्जनों ने तो धर्म का सच्चा स्वरूप समझ कर शुद्ध सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। आचार्य श्री ने दाना और दान के विषय में भगवान् महावीर और जैनागमों का विशद दृष्टिकोण जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

तेरहपंथी साधुओं का भाषण सुन कर जैनेतर जनता ने जैनधर्म के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण धारणाएं बना ली थीं और यह

समझ रक्खा था कि जैनधर्म मरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप मानता है तथा भूखे को भोजन दे देने में भी पाप कहता है। आचार्यश्री ने इस भ्रम का निराकरण किया। उनकी आगमानुकूल व्याख्याएं श्रवण कर लोगों का चिरसंचित अज्ञान दूर हो गया। अनेक तेरहपंथी गृहस्थों ने धर्म का वास्तविक स्वरूप समझा और अनेकों के चित्त में एक नूतन जिज्ञासा उत्पन्न हो गई।

चुरू नगर में भी आचार्यश्री की ओजस्वी वाणी का गंभीर प्रभाव दिखालाई दिया। कुछ लोग तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर आपके अनुयायी हो गये। यद्यपि वहाँ आहार-पानी की कठिनाई थी; वाग्धारणों की वर्षा भी होती रहती थी और आचार्य महाराज के विरुद्ध जैनेतर भाइयों को भड़काया जाता था, तथापि आचार्य महाराज तो वज्र के समान कठोर और फूल के समान कोमल थे। उन्होंने समस्त कठिनाइयों को सन्त जनोचित समभाव से सहन किया। वे पहले ही आने वाली कठिनाइयों की कल्पना कर चुके थे और अपने साथी संतों को भी उनका आभास दे चुके थे, अतएव उन कठिनाइयों से तनिक भी क्षुब्ध न होते हुए आचार्य श्री तथा हमारे चरितनायक थली में विचरण करने लगे।

एक दिन चुरू के कतिपय संबद्ध भाइयों ने आचार्यश्री से चातुर्मास वहीं व्यवतीत करने की प्रार्थना की। किन्तु अनेक कारणों से आचार्य महाराज उनकी प्रार्थना स्वीकार न कर

सके। तब उन भाइयों ने दूसरा विकल्प उपस्थित किया—यदि आपका चातुर्मास होना संभव नहीं है तो आप अपने जैसा कोई दूसरा प्रभावशाली संत यहां भेज दीजिए। आपको भली-भांति विदित है कि हमारे घरमें भी हमारा कोई समर्थक नहीं। लोग विरोध करने पर तुले हैं। ऐसी स्थिति में आपकी तपस्या ही सफलता का रंग ला सकती है।

आचार्य महाराज ने विचार किया। उनकी दृष्टि आपकी ओर ही आकर्षित हुई। चरितनायकजी को ही चुरुमें चातुर्मास करने का आदेश मिला।

आपके जीवन में आचार्यश्री से पृथक् स्वतंत्र रूपसे चौमासा व्यतीत करने का यही प्रथम अवसर था; मगर स्वयं आचार्य श्री का ही आदेश था, जिसे आपने सहर्ष अंगीकार किया। यद्यपि चुरु में चातुर्मास करना जोखिम का काम था। वहां विरोधी विचार वालों की प्रचुरता थी और वे नहीं चाहते थे कि किसी स्थानकवासी साधु का चातुर्मास हो। फिर भी आप निर्भीक भाव से चौमासा करने के लिए उद्यत हो गये। वहां अत्यन्त योग्य साधु ही निभ सकता था। यह योग्यता आचार्यश्री ने हमारे चरितनायक में ही देखी। इस घटना से समझा जा सकता है कि आचार्य महाराज की दृष्टि में आपका क्या स्थान था।

चुरु का चातुर्मास खूब सफल रहा। चार मास तक निरन्तर आपके व्याख्यानो में सैकड़ों और फिर सहस्रों श्रोताओं की

उपस्थिति हो जाना आपके प्रभावशाली मधुर वक्तृत्व का और लोकप्रियता का प्रमाण है। एक सम्प्रदाय विशेष को छोड़ कर चुरू की समग्र जनता आपको प्यार भरे शब्द 'गणेश नारायण' से संबोधित करती थी। चुरू की जनता पर आपके धर्मोपदेश का कितना प्रभाव पड़ा, यह बात इसीसे प्रकट हो जाती है कि संवत्सरी के दिन वहां लगभग ३५० उपवास, पौषध, दया-सामायिक आदि धर्मक्रियाएं हुईं।

चातुर्मास बड़े गौरव के साथ सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास की एक मनोरंजक घटना उल्लेखनीय है। थली प्रदेश में मोठ, ग्वार और बाजरी प्रधान खाद्य हैं। चुरू की जनता यह भोजन तो बड़े प्रेम से आपको देती थी, पर दूध, दही और घी यह सोच कर न देती कि महात्माजी कहीं नाराज न हो जाएं। इधर महात्माजी थे कि मोठ, ग्वार और बाजरी समभाव से खाते रहे और जनता को अमृत पिलाते रहे।

महात्माजी उसी भोजन से सन्तुष्ट थे, मगर शरीर तो आखिर जड़ ठहरा! उसे रुखे-सूखे भोजन के अनिर्वचनीय आनन्द का कहां पता था! वह नीरस भोजन पाकर रूठ गया। उसने असहयोग का अस्त्र सँभाला। मानो साफ चुनौती दे दी—आप मेरी परवाह नहीं करते तो मुझे क्या पड़ी है कि मैं आपको पूरा सहयोग दूँ!

आपकी काया कृश हो गई। नेत्रों की ज्योति भी मंद पड़ गई। इस प्रकार शारीरिक क्षति होने पर भी आपका मन कृश

न हुआ। अन्तरात्मा में निर्बलता न आई; बल्कि आपका आत्मिक तेज अधिक ज्वाज्वल्यमान हो उठा।

चार मास तक प्रतिदिन धर्माभूत की वर्षा करके आप चुरु की जनता के आध्यात्मिक गुरु के रूप में जनता के मनोमन्दिर में आराध्य देव की तरह प्रतिष्ठित हो गए।

सफलता के साथ चातुर्मास समाप्त कर आप आचार्य देव के चरणों में पहुँचे। आचार्य श्री ने जब आपकी शारीरिक कृशता और नेत्र-ज्योति की मन्दता का कारण पूछा तो सारी स्थिति यथार्थ रूप में स्पष्ट करनी ही पड़ी। बात औरों ने भी सुनी और उड़ती-उड़ती चुरु तक जा पहुँची। चुरु के आपके भक्त यह सुन कर अपनी असावधानी के लिए अपने आपको कोसने लगे। जब इतने से उन्हें सन्तोष न मिला तो कई प्रतिनिधिमण्डल बनाकर आपकी सेवा में पहुँचे। सबने क्षमायाचना और पश्चात्ताप के स्वर में आपको उपालम्भ दिया। कहा— भगवन्! चार महीनों तक बहुत-सी बातें समझाईं तो एक बात और समझा दी होती! थोड़ा-सा संक्रेत भी तो नहीं मिल पाया कहीं से! और हम ऐसे अज्ञान ठहरे कि अपने आप कुछ समझ-सोच न सके! हमारी नासमझी का प्रायश्चित्त आपने किया; यह आपकी लोकोत्तर उदारता है, मगर हमारे संतापकी तो सीमा नहीं है। आपको जो दैहिक कष्ट उठाना पड़ा है, वास्तव में हम ही उसके लिए उत्तरदायी हैं। हमें ज्ञात नहीं था, जैन साधु दूध, दही और घी आदि पदार्थ ग्रहण कर सकते हैं।

चरितनायकजी चुरू-निवासियों के स्नेह की सुधा का पान करके परितुप्त थे। दूध, दही और घी में वह रस कहां है जो स्नेह के अमृत में है ? यही कहकर आपने उनको सान्त्वना प्रदान की।

नहीं मालूम उन भोले भक्तों के चित्त का इससे समाधान हुआ या नहीं; मगर यह अवश्य मालूम है कि चुरू की जनता त्यागमूर्ति श्री गणेशीलालजी म० को आज तक मुला नहीं सकी।

अद्भुत चमत्कार

वि० सं० १९८८ का चातुर्मास आपको फलौड़ी में करना था। मार्ग में ग्राम पड़ता था, वहां करणी के स्थान पर जो बलिदान होता था वह आपके उपदेश से बन्द हुआ। विहार करते करते जब आप तीवरी पहुंचे तो उस समय वहांकी विभिन्न जातियों में किसी सामाजिक विषय को लेकर पारस्परिक संघर्ष चल रहा था।

उस समय आपका पदार्पण तीवरी के लिए महान् वरदान सिद्ध हुआ। आपके शान्तिपूर्ण उपदेश और अनाग्रही वृत्ति से वहां की जनता इतनी प्रभावित हुई कि सारा वैर-भाव मुला कर समझौते पर आई और पुनः संगठित हो गई।

ओसवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण, सेवग, क्षत्री, नाई, सुनार, चौधरी, तेली तथा विशनोई आदि में फैला हुआ भयंकर कलह प्रेम के रूप में परिणत हो गया। वैर की आग आपके उपदेश की

शीतल वारिधारा से उपशान्त हो गयी। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' इस विधान की सत्यता आपने प्रमाणित कर दी।

आपके उदार एवं निष्कलुष हृदय का ही यह प्रभाव था कि विवाद संवाद बन गया और विरोध अविरोध के रूप में परिणत हो गया।

अहिंसा-प्रतिष्ठापक

वि० सं० १६८८ का चातुर्मास फलौदी में सफलता के साथ व्यतीत हुआ। चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् जब आप विहार करने लगे तो आपको एक ऐसा संवाद मिला कि आपका शान्त अन्तःकरण भी उद्वेलित हो उठा। किसीने आपको बतलाया कि—नाउदिया ग्राम में प्रतिवर्ष मेला लगता है। उस मेले के अवसर पर ५०० जीवों की सामूहिक हत्या की जाती है और १५०० प्राणी व्यक्तिगत रूप से छुरी के शिकार बनाये जाते हैं।

इस भीषण संवाद से आपके नवनीत से सुकोमल हृदय को गहरा आघात लगा। आपने सोचा— मानवजाति के इस कलंक को मिटा देने का प्रयत्न करना मानवता की भी बड़ी सेवा होगी और मारे जाने वाले पशुओं के प्रति अनुकम्पा भी होगी। धर्म के नाम पर होने वाले यह घोर हत्याकाण्ड मानवीय विवेक के दिवालियेपन को सूचित करते हैं। निरपराध मूक पशुओं के प्रति भयंकर से भयंकर अत्याचार करने वाला मानव किस विरते पर सभ्य, शिष्ट और समझदार होने का दावा कर सकता है !

आपका अन्तःकरण करुणाभाव से परिपूर्ण हो गया ।

फलोदी की जनता और माउडिया की प्रेमी भक्तमंडली आपके चारों ओर जुट गई । आपने बड़ी ही योग्यता के साथ, इतने प्रभावशाली ढंग से अहिंसा की व्याख्या की कि वज्रहृदय भी पिघल गये । हिंसकों का हृदय परिवर्तित करने में आप सफल हुए । समग्र ग्राम की जनता ने स्वेच्छापूर्वक हिंसा बन्द कर देने का फैसला किया और २००० जीवों को अभयदान मिला । मनुष्यता का एक कलंक धुला और अहिंसा की प्रभावना हुई ।

'माउडिया' नाम ही सूचित करता है कि उस ग्राम में माता - देवी—की विशेष रूप से मान्यता होगी । किन्तु आपके सराहनीय उपदेशों से प्रभावित हुई फलोदी की जैन-जैनैतर जनता द्वारा वहाँ अहिंसा-माता की जो प्राणप्रतिष्ठा हुई, उससे वह ग्राम वास्तव में 'माउडिया' नाम का अधिकारी बन सका ।

मनुष्य देवी-देवताओं के नाम पर भोले-भाले प्राणियों की हिंसा का खेल खेल रहा है । स्वार्थ और दैविक अनुग्रह की अंधश्रद्धा इस पाप की जड़ है । धार्मिक अविवेक और स्वार्थ-साधना के निमित्त मनुष्य ने न जाने कितने समुद्र लाल किये हैं और कितनी जमीन को मांस तथा लोथों का खाद दिया है ! मगर अहिंसा एक दिन हिंसा को परास्त करके ही रहेगी और व्यापक नीति की प्रतिष्ठा होगी; उसी दिन मनुष्य जाति का समग्र प्राणिजगत में श्रेष्ठ होने का दावा सच्चा साबित होगा ।

युवाचार्य-निर्वाचन

जलगांव चातुर्मास के समय आचार्यश्री के हाथ में एक जहरीला फोड़ा हो गया था। उसने भयंकर रूप धारण कर लिया और आचार्य महाराज का महान् जीवन खतरे में पड़ गया। उस समय आचार्य म० ने जो वीणणा की, वह इस प्रकार थी:—

“मेरे हाथ में विषाक्त स्फोट निकला हुआ है। मालूम नहीं इस भौतिक शरीर का कब अन्त हो जाय। अतः श्रीसंघ आपस में विचार-विनिमय करके युवाचार्य का निर्वाचन कर ले। मेरे मानस को इससे बहुत शान्ति मिलेगी और साथ में मेरे कंधों पर पड़ा सामाजिक दायित्व का भार भी कुछ हल्का हो जायगा।”

उस समय पं० रत्न श्री घाभीलालजी म० तथा वर्तमान

उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० दोनों ही आचार्यश्री के समीप मौजूद थे और दोनों ही सेवा में तल्लीन थे।

आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म० के सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावक श्री वर्धमानजी पीतलिया, श्री अमृतलाल भाई, सेठ लछमन-दासजी, श्री नथमलजी चोरडिया आदि भी जलगांव में उपस्थित थे।

श्रावकों, श्राविकाओं, साधुओं एवं साध्वियों ने मिल कर उपाचार्य के चुनाव के संबंध में खूब विचार-विनिमय किया। सामने एक जटिल समस्या थी और वह यह कि श्री घासी-लालजी म० तथा श्री गणेशीलालजी म० में से किसी एक को ही युवाचार्य चुना जा सकता है, तो किसे चुना जाय? योग्यता-पूर्वक समाज के दायित्व का निर्वाह करने वाला, सम्प्रदाय का संरक्षण एवं संवर्धन करने वाला, तप-त्याग और संयम का प्रतीक, धर्म का गौरवस्वरूप तथा श्रमण भगवान् महावीर के शासन का प्रभावक विशिष्ट व्यक्तित्व अपेक्षित था।

संघ-नायकों की नजर अन्ततः हमारे चरितनायकजी पर ही टिकी और उन्होंने युवाचार्य के रूप में आपका निर्वाचन कर लिया।

किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को यह चुनाव संवेधा उचित ही प्रतीत होगा। जब यह चुनाव प्रकाश में आया तो सभी ने एक स्वर से उसका समर्थन किया। सबको सन्तोष हुआ।

अजमेर में स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनिवरों का एक

बृहत् सम्मेलन हुआ था। उसमें भारतवर्ष के लगभग सभी स्थानकवासी सम्प्रदायों के मुनिराज सम्मिलित हुए थे। वह एक विराट् और अपूर्व प्रसंग था। उस अवसर पर एकत्र हुए महामुनियों ने सम्प्रदाय को एक सूत्र में पिरोने के संबंध में विचार-विमर्श किया। उस विचार-विमर्श के फलस्वरूप निश्चय किया गया कि सब सम्प्रदायों का एकीकरण तो अभी आदर्श है, किन्तु पूज्य हुक्मीचंदजी महाराज के सम्प्रदाय में जो दो विभाग हो गये हैं, उन्हें फिलहाल एक किया जाय।

प्रश्न उठा—यह कैसे संभव हो ?

समाधान हुआ—पंच नियत कर दिये जाएँ और उनका निर्णय दोनों पक्ष मान्य करें।

पाँच पंच नियुक्त किये गये—(१) कविवर्य श्री नानचन्द्रजी म० (२) श्री मणिलालजी म० (३) शतावधानी श्री रत्नचन्द्रजी म० (४) आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म० और (५) सरपंच पंजाब केसरी युवाचार्य श्री काशीरामजी म०।

पंच मुनिवरों ने गहरी मंत्रणा और विचारणा के पश्चात् अपना निर्णय सुना दिया। उस निर्णय में आचार्य श्री मुन्नालालजी म० तथा आचार्य श्री जवाहरलालजी म० दोनों पृथक्-पृथक् धाराओं के पृथक्-पृथक् आचार्य रहें, किन्तु दोनों आचार्यों के उत्तराधिकारी के रूप में एक ही युवाचार्य बनाया जाय और युवाचार्य का वह पद पं० रत्न श्री गणेशीलालजी म० को प्रदान किया जाय।

इस प्रकार समग्र स्थानकवासी समाज के महान् मूर्धन्य मुनिवरों ने दोनों सम्प्रदायों का युवाचार्य बनाने का निर्णय करके जलगांव के निर्वाचन के औचित्य पर अपनी मोहर लगा दी। इससे बढ़ कर और क्या प्रमाणपत्र हो सकता है ? नगर में धूमधाम और हर्षोल्लास के साथ आप युवाचार्य पदवी से विभूषित किये गये।

शिष्य नहीं, साधुत्व चाहिए

पारिवारिक द्यामोह से आप विलग ही बने रहते थे। शिष्य बनाने के संबंध में आपकी जैसी विचारधारा थी, उसका दिग्दर्शन पहले ही कराया जा चुका है। गुरुदेव के आदेश को अंगीकार करके यद्यपि आपने शिष्य बनाने का त्याग नहीं किया था, फिर भी शिष्य विषयक अरुचि आपके मन में गहरी पैठी हुई थी जो वार्त्तालाप करने पर आज भी झलकें बिना नहीं रहती। अतएव जो मुमुक्षु शिष्य बनने की अभिलाषा लिये आपके निकट आता, उसे आप आचार्य श्री का शिष्य बनाते और आप हल्के के हल्के ही बने रहते थे। जब तक आप युवा-चार्य पद पर प्रतिष्ठित न हो गये, आपने किसीको अपना शिष्य नहीं बनाया।

युवाचार्य पद पर अभिषिक्त हो जाने पर स्थिति पलट गई। अब आपके समक्ष आत्महित के साथ ही साथ संघहित का भी

दायित्व था। अविच्छिन्नरूपेण चली आई गुरु-शिष्य की परस्परा को चालू रखना एक प्रकार से अपने पूर्वज आचार्यों को ऋण से मुक्त होना था। फिर भी शिष्यलोभ ने आपको कदापि आतंकित अथवा अभिभूत नहीं किया। आप इस संबंध में सदैव तटस्थ एवं सतर्क रहे हैं।

वि० सं० १९६५ में आप कोटा पधारे। उस समय एक बड़ी दिलचस्प घटना घटित हुई। एक नवयुवक आपकी सेवा में उपस्थित हुआ। उसने अत्यन्त नम्रता के साथ निवेदन किया— 'भंते! मुझे अपना शिष्य बना लेने का अनुग्रह कीजिए। मैं आपके चरणों में रह कर संयम का पालन करना चाहता हूँ।'

महाराज ने उत्तर दिया—भाई, साधु बनना हँसी-खेल नहीं है। पहले साधु बनने की बात मत करो, साधुता को समझने का प्रयत्न करो, ज्ञानोपार्जन करो। त्याग और वैराग्य की भावना को स्थायी और सबल बनाओ। चित्त की चंचल लहरों में बहने से जीवन अव्यवस्थित हो जाता है। अतएव कल्याण करना है तो आत्मा को तप की भट्टी पर चढ़ाओ। गुरु की परीक्षा कर लो। इसके पश्चात् साधु-दीक्षा अंगीकार करने का प्रसंग आ सकता है।

यह निस्पृहतापूर्ण निखालिस उत्तर सुनकर नवयुवक चकित रह गया। उसके मन में अतीत के अनेक चित्र साकार हो उठे। उसने सोचा—मैं कितने ही संतों के पास पहुँचा, पर ऐसा यथार्थ पथप्रदर्शक उत्तर किसीने नहीं दिया।

एक ने कहा था—बच्चा, हमारे पास साधु बनेगा तो तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न होगा।

दूसरे ने फर्माया था—चेला बन जा। हम अपनी सब विद्याएँ तुम्हें समर्पित कर देंगे।

तीसरे ने प्रलोभन दिया था—मेरा शिष्य बनेगा तो तुम्हें सम्प्रदाय का मुखिया बना दूँगा।

चौथे ने अपना महत्त्व प्रकट करते हुए बतलाया था—ज्यादा सोच-विचार में पड़ने की आवश्यकता नहीं। आत्म-कल्याण के कार्य में विलम्ब न कर। हमारे जैसा सन्त और सम्प्रदाय तुम्हें दूसरा नहीं मिलने का।

शिष्य बनने के इन सभी सुझावों में मुझे आश्वासन मिला था, आकर्षण मिला था, प्रलोभन मिला था, सचज वाग दिखलाये गये थे। नगर एक महाराज यह हैं जो पहले साधुत्व को समझने की सलाह दे रहे हैं। परीक्षा देने और फिर साधु बनने की बात कह रहे हैं।

नवयुवक का मन आपकी निस्पृहता की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। श्रद्धा-भक्ति से वह द्रवित हो उठा। साथ ही कुतूहल भी उत्पन्न हुआ। उसने पुनः निवेदन किया—'भंते! सभी साधु बनने वालों के सामने आप ऐसी ही कठोर शर्तें रखेंगे तो कैसे कोई आपका शिष्य बनेगा ?

महाराज बोले—कोई मेरा शिष्य नहीं बनेगा तो मेरी क्या हानि हो जायगी ? मेरे आत्मकल्याणमें कौन-सी बाधा उपस्थित

हो जायगी ? मुझे सेना नहीं खड़ी करनी है। आत्मसाधना के पथ पर चलने वाले के साथ वही वहादुर चल सकता है जो वास्तविक वैराग्यभावना से विभूषित हो; तपःपूत हो, जिसका ज्ञान अगाध, दर्शन अडिग, और चारित्र आगमानुकूल और निष्ठापूर्ण हो। भाई, मुझे साधु-संख्या नहीं, साधुता चाहिए। पारस्परिक सहकार से संयम की साधना में अग्रसर होने के लिए ही गुरु-शिष्य संबंध स्थापित किया जाता है। जहाँ इस उद्देश्य की पूर्ति न हो सकती हो, वहाँ वह संबंध निरर्थक ही नहीं, हानिजनक भी सिद्ध होता है।

महाराज के यह मार्मिक शब्द आगन्तुक नवयुवक साधक के चित्त में गहरे पैठ गये। वह समझ गया कि यही विभूति है जिसे पाकर मैं अपना संयम-जीवन धन्य बना सकूंगा। मेरे आत्मकल्याण का पथ इन्हीं से प्रशस्त होगा। ऐसे निस्पृह, निःस्वार्थ एवं विरक्त महानुभाव ही मेरे जीवन को पावन बना सकेंगे।

विरक्त नवयुवक ने उपाचार्यजी महाराज के आदेश को सर्वात्मना स्वीकार किया। वह उसी दिन से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की साधना में तल्लीन हो गया। उसकी अखण्ड वैराग्य-भावना और ज्ञानोपार्जन की तन्मयता ने आपको भी आकर्षित किया। आपको विश्वास हो गया कि वास्तव में खरा सोना है और दीक्षा के लिए सुपात्र है। इसकी संयमसाधना को अग्रसर करने में योग देना मेरा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार लम्बी परीक्षा के पश्चात् दीक्षा दे दी गई। आज वही सन्त पं० श्री नानाखालजी म० के नाम से विख्यात हैं और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उपाचार्य श्री की सेवा में तन्मय रहते हुए आत्म-कल्याण की साधना कर रहे हैं।

आचार्य श्री जवाहरलालजी म० का अंतिम काल

आचार्यदेव के प्रति आपका अगाध प्रेम था। अटूट निष्ठा थी। आपने उन्हें अपनी जीवन-नौका का एकमात्र कर्णधार बनाया था। ३८ वर्ष जितने दीर्घकाल पर्यन्त वे आपको अपने सत्परामर्श में चलाते रहे और आप भी आचार्य की एक-एक आज्ञा पर अपना जीवन ढालते रहे। महान् प्रतिभापुंज आचार्य की वरदायिनी छत्रछाया में आप शान्ति और समाधि के साथ ज्ञान-चारित्र्य की निरन्तर निश्चिन्त भाव से वृद्धि करते रहे। मगर निसर्ग के नियम अटल हैं। उनमें व्यतिक्रम नहीं होता। संयोग का अन्त वियोग के रूप में होता है, यह भी निसर्ग का नियम है। अतएव एक दिन ऐसा भी आया कि भीनासार (बीकानेर) में आपके ही सामने आचार्यवर्य श्री जवाहरलालजी म० का स्वर्गवास हो गया। एक अनूठा आलोक अस्त हो गया। आचार्य का दायित्व आपके कंधों पर आ पड़ा।

आचार्य जवाहर शताब्दियों में दृष्टिगोचर होने वाली विरल विभूति थे। उनके प्रति राष्ट्र के कर्णधारों की गहरी श्रद्धा और निष्ठा थी। महात्मा गांधी, सरदार पटेल, महामना मालवीय और लोकमान्य तिलक जैसे तत्कालीन महान् राष्ट्रनेता उनके सम्पर्क में आये थे। उन्होंने जैनसमाज के आगम का मन्थन करके विचार की एक नवीन दिशा सुझाई थी। नवीन इसलिए कि पुरातन होने पर भी लोग उसे विस्मृत कर चुके थे। उन्होंने अल्पारंभ-महारंभ के आधार पर बतलाया कि खादी का कितना उच्च स्थान है? राष्ट्र के प्रति सभ्य नागरिक का क्या कर्तव्य है? फैशन और अमीरी के नाम पर हिंसक खान, पान, परिधान और रहन-सहन के आमूलचूल परिवर्तन कर देने वाले उपदेश में आचार्य श्री का सर्वाधिक योग रहा है।

उन्होंने शास्त्रों का अनुसरण करते हुए स्पष्टबतलाया था कि श्रावक के जीवन में गोसेवा, कृपिकर्म और स्वावलम्बन का क्या स्थान है? धार्मिक दृष्टि से खादी की पोशाक श्रावक के लिए उचित है या रेशम के चटकीले वस्त्र? इत्यादि विषयों में कर्तव्योद्बोधन देने वाले अपने युग में वे अकेले ही थे। रूढ़ परम्परा के उस युग में आचार्य जवाहर को रुढ़िचुस्त कई लोग 'लीडर' कहा करते थे। किन्तु हम जानते हैं कि उन्होंने विचार करने की एक नवीन पद्धति समाज के सामने प्रस्तुत की थी, जो आगमसम्मत और साथ ही समाज एवं राष्ट्र के लिए भी हितावह थी।

देश की स्वाधीनता की मांग करना उस समय अपराध था, किन्तु आचार्य जवाहर राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए सिंह की तरह निर्भीक गर्जना करते थे। यही कारण है कि आज भी श्री गणेशीलालजी महाराज राष्ट्रधमे और खादी के संबंध में अनुपम विश्लेषण करते हैं।

आचार्य जवाहर गये किन्तु उनकी विरासत, उनका अनुभव और उनकी क्रान्तिकारी विचारधाराओं का सुरक्षित कोश आज भी विद्यमान है और जब तक श्री गणेशीलालजी म० का जीवन विद्यमान है तब तक वह सुरक्षित ही रहेगा ! इस दृष्टिसे आप सुयोग्य गुरु के सुयोग्य प्रतिनिधि शिष्य हैं।

थली की ओर

दया और दान के विषय में आपके मन में गहरी अनुभूति है। अतएव आप उन भाइयों से चर्चा करने में विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं जो जैनधर्म के नाम पर दया और दान का निषेध करते हैं। जैनधर्म के अनुयायियों में करीब दो सौ वर्षों से दया और दान के संबंध में विवाद चल रहा है। एक सम्प्रदाय की मान्यता बन गई है कि साधु के सिवाय सब असंयत हैं, क्योंकि उनमें पूर्ण संयम का अभाव है। उनकी रक्षा करना, उन्हें मृत्यु से बचा लेना, बीमार होने पर उन्हें औषध देकर शान्ति पहुंचाना, भोजन देकर उनकी प्राणरक्षा करना एकान्त पाप है; ऐसा करने वाला एकान्त पापी है।

वे कहते हैं—कसाई बकरे के गले पर छुरी चला रहा हो तो कसाई को हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश दिया जा सकता है, मगर बकरे के प्राणों की रक्षा के लिए उपदेश देना पाप है। वह धर्म नहीं हो सकता।

दया और करुणा जैनधर्म का प्राण है। अन्य धर्म भी एक स्वर से दया-दान की महिमा का गुणगान करते हैं। ऐसी स्थिति में भूतदया को एकान्त पाप मानना धर्म के मूल आधार का ही निषेध करता है। जैनधर्म के श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी—सभी सम्प्रदाय इस विषय में कोई मतभेद नहीं रखते। केवल यही एक सम्प्रदाय है जो दया-दान को पाप मानता है।

चरितनायक का हृदय इतना अधिक दयामय है कि वे दया-दान को कोई पाप कहे इसे सहन नहीं कर सकते। इस मान्यता के विषय में वे तटस्थ नहीं रहे, अपितु अवसर आने पर शास्त्रों के आधार से इस मान्यता का यथाशक्य विरोध करते रहे और जोरदार निराकरण भी करते रहे।

दया-दान को पाप मानने के भ्रम में पड़ कर स्व-पर का अहित करने वाले भाइयों के साथ प्रेमपूर्वक विचार-विनिमय हो, पारस्परिक सौहार्द एवं स्नेह के वातावरण में शास्त्रीय आधार से चर्चा हो, संवाद हो, प्रश्नोत्तर हों, यही आपके थली प्रदेश में परिभ्रमण करने का प्रयोजन था। आपने इस प्रकार की चर्चाओं का सदा स्वागत किया। शुद्ध श्रद्धा पर आप सदैव बल दिया करते हैं। आपकी दृढ़ धारणा है कि धर्म का पहला पाया शुद्ध श्रद्धा है और श्रद्धा का आधार शुभ भावना और शुद्ध विचार है। शुद्ध विचारों की कसौटी सत्य-असत्य का विवेक करने की विश्लेषणशक्ति है।

जैनधर्म ने विस्तृत रूप से समूची विश्वव्यवस्था का वर्णन किया है। विस्तार के साथ तत्त्व की गहरी विवेचना भी की है। किन्तु साथ ही एक मर्यादा बाँध दी है, एक विभाजक रेखा भी खींच दी है। वह यह कि समूचे ज्ञान में आत्मसाधना में सहायक ज्ञान उपादेय है, आत्मसाधना विरोधी ज्ञान हेय है और आत्मसाधना की पूर्णता में सहायक ज्ञान ज्ञेय है।

उपादेय, हेय और ज्ञेय ज्ञान— यह ज्ञानमय जगत् की तीन श्रेणियाँ हैं। इसमें जो उपादेय है, उसे ग्रहण करो, हेय को त्याग दो और ज्ञातव्य का ज्ञान प्राप्त करो।

आपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरदारशहर पधार कर चातुर्मास किया, थली और राजस्थान के विभिन्न भागों में परिभ्रमण किया। ध्यावर में धर्मोद्योत करने के बाद आप बगड़ी पधारे। वहाँ चातुर्मास किया। दया-दान से विपरीत मान्यता रखने वाले सज्जनों से आपने लिखित प्रश्नोत्तर किये। आपके शास्त्रीय संवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह रहती है कि विपरीत मान्यता रखने वाला पक्ष आपका कितना ही विरोध करे, उपहास करे, कुत्सा और घृणा की भाषा में उत्तर दे, अशिष्टता प्रदर्शित करे; किन्तु आप सदैव प्रेम और स्नेह की भाषा में ही उत्तर देते हैं। आपकी यह विशेषता आपके स्वभाव का एक स्थायी अंग बन गई है।

भीड़ से दूर, एकान्त की ओट में

भीड़भाड़ से दूर रहना आपको सदैव रुचिकर रहा है। नगरों और विशाल शहरों की अपेक्षा भारतीय प्राचीन सभ्यता के प्रतीक ग्रामों को आप सदैव स्नेह का अंचल प्रदान करते आये हैं। आपके चातुर्मासों की सूची में सरदारशहर, कुचेरा गोगोलाव, वगड़ो, बड़ीसादड़ी और कानौड़ आदि हैं, जो इस तथ्य के साक्षी हैं। चातुर्मास के अतिरिक्त वर्ष के शेष आठ मासों में आप प्रायः ग्रामों में ही विहार करना पसंद करते हैं।

राजमहलों में व्याख्यान देने की भी धुन आपमें नहीं है। एक बार आप देवगढ़ (मेवाड़) में पधारे। वहां के राव साहब ने राजभवन में व्याख्यान देने की प्रार्थना की। उसके उत्तर में आपने कहा - राव साहब! मेरे लिए प्रत्येक स्थल समान है। राजभवन में भी मैं व्याख्यान दे सकता हूँ। मगर किसी दूसरे स्थान की अपेक्षा राजभवन को विशेषता या महत्त्व देना मुझे

पसंद नहीं। राजा और प्रजा, धर्मशाला और राजप्रासाद, हॉल और मैदान सब मेरे लिए एक-से हैं। आजकल जहाँ व्याख्यान हो रहा है, वह स्थान अनुपयुक्त नहीं है। किसी स्थान के उपयुक्त होने पर भी राजभवन में जाने की क्या आवश्यकता है ?

यह है सन्त की प्रकृति :

नेहरू और विनोबा से मिलन

पंडित जवाहरलाल नेहरू आपके शुभ नाम से आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के समय से ही परिचित रहे हैं। नेहरूजी जब व्यावर गये और उन्हें विदित हुआ कि आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज भी इस समय यहीं विराजमान हैं तो आपके दर्शन और मिलन की इच्छा उनके मन में जाग उठी। सायंकाल, जब वे आपके दर्शन करना चाहते थे, उस समय भारतीय जनता के प्राणप्रिय नेताज वादशाह नेहरूजी के चारों ओर इतनी भीड़ जमा थी कि वे आपके सन्निकट पहुंच नहीं सकते थे। फिर भी कुछ दूरी से ही नेहरूजी ने नमस्कार किया और किसी दूसरे समय मिलने एवं वार्तालाप करने की आज्ञा चाही।

एक बार इन्दौर में आपका विराजना था। इन्दौर के निकट ही सर्वोदय समाज का अधिवेशन हो रहा था। विनोबाजी को सूचना मिली कि आचार्य श्री गणेशीलालजी

महाराज इधर ही विराजमान हैं। वे समय निकाल कर मिलने आये। पौन घंटे तक चर्चा चली। विविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्त्तालाप होता रहा। वार्त्तालाप की समाप्ति पर विनोबा जी की अमर वाणी प्रस्फुटित हुई—

‘महाराज ! भूल जाइए कि जैनियों की संख्या कम है। जैनों के सिद्धान्त विश्व की समस्त विचारधाराओं में मिस्री की तरह घुल गये हैं।’

विनोबाजी पुनः बोले—एक बात मेरे मन में सदा खटकती रहती है कि जैनियों ने जिस दृढ़ता से अहिंसा को पकड़ा है, उसी लगन और निष्ठा से वे सत्य को नहीं पकड़ पाये हैं। अगर जैन समाज ने सत्य और अहिंसा—दोनों को अपने जीवन का पाया बना लिया होता तो निश्चित है कि मानससर से निकलने वाली गंगा-धारा की तरह यह बिलग ही दिखाई देता।

सत्य और अहिंसा के समन्वय पर ही, गंगा और यमुना के संगम के समान, द्विव्यतीर्थ की प्रतिष्ठा हो सकती है।

विश्व के मानव-समुदाय में निरामिष भोजन और व्यसन-विहीन जीवन के लिए जैसे जैन समाज आदर्श है, उसी प्रकार मैं उसे सत्य और सरलता में, स्वावलम्बन और स्वाधीनता में भी आदर्श देखना चाहता हूँ।’

आचार्यश्री और विनोबाजी का सम्मिलन बहुत ही सौजन्यपूर्ण और मधुर रहा। यही कारण है कि आज भी विनोबाजी समय-समय पर आचार्यदेव को स्मरण करते रहते हैं।

जयपुर की ओर

मेवाड़ आपकी जन्मभूमि है। मेवाड़ में बड़ीसादड़ी एक सुन्दर कस्बा है। भीड़ से अलग, एकान्त की ओट लेने के लिए ही आपने वहाँ चौमासा किया था। चौमासा समाप्त होने पर मालवा की काली धरती की ओर आपका प्रयाण हुआ। रतलाम-चातुर्मास आपकी महान्ता की महान् सफलताओं का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है। संघ-ऐक्य-समिति का प्रतिनिधिमण्डल जब जावरा में आपकी सेवा में पहुंचा तो आपने एकता की आवश्यकता पर बहुत बल दिया। विहार करते हुए जब आप उज्जैन पहुंचे तो जयपुर का प्रतिनिधि-मण्डल सेवा में पहुंचा।

इस प्रतिनिधि-मण्डल ने जयपुर में चातुर्मास करने की आग्रहभरी प्रार्थना की। इस प्रार्थना के पीछे एक विशेष हेतु भी था। उस वर्ष जयपुर में दया-दान विरोधी मान्यता रखने वाले सम्प्रदाय के आचार्य का चातुर्मास होने वाला था। किसी भी

जैन सम्प्रदाय के आचार्य का चातुर्मास होना प्रसन्नता की बात है, किन्तु आचार्यों की यह एक बड़ी जिम्मेवारी है कि जैनधर्म के गौरव की वृद्धि हो, कम से कम उनके निमित्त से गौरव को क्षति तो न पहुँचे। मगर जयपुर में यह बात न हो सकी। दूसरे सम्प्रदाय के आचार्य जब जयपुर में पहुँचे तो उनके साथ दीक्षार्थी बालकों की एक टुकड़ी-सी चल रही थी और दूसरी ओर दीक्षार्थिनी बालिकाओं एवं नवयुवतियों की टोली भी थी। जनता ने जब यह दृश्य देखा तो विविध प्रकार की कल्पनाएँ की; नाना प्रकार के अनुमान लगाए। कुछ लोग बालदीक्षा की बात सोच कर भड़क गये। इस प्रकार जनता के विविध वर्गों का मानस उखड़ गया।

बालदीक्षा का एकान्त रूप से विरोध ही करना चाहिए; मैं ऐसा नहीं मानता, तथापि क्रमिक विकास के अनन्तर सुमुमुक्षु को स्वाधीन भाव से सोचने और अपना रास्ता निश्चित करने का अवसर दिया जाना चाहिए, ऐसी मेरी धारणा अवश्य है। ज्ञान-बल, वैराग्यबल आदि का विकास होने के पश्चात् ही साधुत्व की बात सोची जानी चाहिए; दीक्षा दीक्षार्थी की योग्यता पर निर्भर है।

कोई भी जैनाचार्य लड़कियों की टोली अपने साथ रखे और साथ ही साथ विहार करने की इसलिए आज्ञा दे कि वे दीक्षार्थिनी हैं, यह उचित नहीं। जैन साधु के आचार से यह संगत नहीं है। समग्र जैन परम्परा में किसी भी दूसरे आचार्य

ने इस प्रणाली का न अनुत्तरण किया है और न समर्थन ही। फिर भी साम्प्रदायिकता के बल पर ऐसा किया जा रहा है! यह जिनशासन की अवहेलना है।

चरितनायकजी का जयपुर-चातुर्मास इस दृष्टि से भी सफल रहा कि जैनधर्म के नाम पर अवोध बालकों और बालिकाओं की जो दीक्षा हो जाने बालक शो और जिसकी प्रतिक्रिया जनता में भयानक होने की संभावना थी, उसका आपके द्वारा समुचित स्पष्टीकरण हो सका।

आप दीक्षा के विरोधी नहीं हैं किन्तु अयोग्य दीक्षाओं का आप कदापि नहीं करते।

अयोग्य एवं बालदीक्षा के समर्थन के लिए जयपुरमें श्री जयप्रकाशनारायण लाये गये। जिस पक्ष ने उन्हें बुलाया था, उसके पुनः पुनः विरोध करने में भी जयप्रकाश बाबू आपके दर्शनार्थ आये। उन्होंने दोनों पक्षों के विचार सुने, समझे और अन्त में आपके सत्य और तर्कपूर्ण विचारों से सहमत हो गए।

जयपुर-चातुर्मास की यह सब घटनाएँ आपकी गंभीर विचारशक्ति को द्योतित करती हैं।

प्रबल प्रचारक

राजस्थान और मालवा के ग्राम-ग्राम में आपके प्रचार की धूम है। प्रचार एक कला है। वही प्रचारक सफलता पाता है जिसमें कुछ असाधारण विशेषताएँ हों। जीवन में प्रेम, स्नेह, सरलता, तप, त्याग, बौद्धिक प्रगल्भता, विचारों की शुचिता और दृढ़ता, वाणी की मधुरता, उत्सर्गवृत्ति और परदुःखानुभूति आदि गुण विज्ञान ही तो प्रचारक समाज को प्रभावित कर सकता है और प्रचार-कार्य में यथेष्ट सफलता भी पा सकता है।

आचार्य श्री गणेशीलालजी म० में इन सब गुणों का प्राणुय उपलब्ध होता है। अपने श्रोताओं के प्रति वे अपार करुणा का निर्मल निर्भर प्रवाहित करते हैं। अपनी सुधामयी वाणी से विषय को इतना विशद बना देते हैं कि श्रोता प्रफुल्लित हो जाता है। जब परमात्मा की प्रार्थना पर विवेचना करते हैं तो श्रोताओं का हृदय भक्तिरस में निमग्न हो जाता है और चारों ओर

श्रद्धा-भक्ति का वायुमंडल-सा निर्मित हो जाता है। उस समय आपकी मुद्रा भी अतिशय दर्शनीय होती है। आपकी आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति आपके मुखमंडल पर चमक उठती है। वास्तव में वह दृश्य बड़ा ही पावन होता है।

जयपुर का चातुर्मास समाप्त करके आप पल्लीवाल महाजनो के क्षेत्र में पधारे। वहाँ की जनता में आपके धर्मप्रचार की भूम मच गई। उस समय आगरा में विराजमान पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी म० की इच्छा थी कि आचार्य श्री आगरा पधारे। कविवर श्री अमरचंद्रजी महाराज की भी आग्रहभरी विनती थी। अतएव आचार्यश्री ने आगरा की ओर विहार किया। आगरा में अहिंसा की वाणी गूँजने लगी। वह गूँज दिल्ली तक जा पहुँची और दिल्ली वालों ने चाहा कि आचार्य देव हमारे क्षेत्र को पावन करें। भक्तों की प्रबल प्रेरणा से महाराज हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली की ओर पधारे।

आपके आगमन पर दिल्ली में अपार हर्ष की लहर उत्पन्न हो गई। साधु जनता की आन्तरिक श्रद्धा का केन्द्र है। सन्तों ने भारतीय जनमानस में आदर्श संस्कारों की प्राणप्रतिष्ठा की है।

संयोग की बात समझिए कि जिस समय आचार्यश्री का दिल्ली में पदार्पण हुआ, उसी समय दया-दान के विषय में भिन्न मत रखने वाले आचार्यजी का भी प्रचार चल रहा था। मगर दिल्ली की जनता जागरूक थी। चहुँ ओर स्वभावतः एक प्रश्न उत्पन्न हो गया। वह यह कि आखिर इन दोनों जैन

सम्प्रदायों के प्रमुखों की मान्यता में अन्तर क्या है? दोनों जैन साधु हैं, दोनों के शास्त्र और भगवान एक हैं, दोनों का वेप भी बहुत कुछ मिलता-जुलता है; फिर पार्थक्य क्या है?

लोगों की जिज्ञासा बढ़ी, कुतूहल बढ़ा। समाधान पाने के लिए प्रश्नकर्त्ताओं का तांता लग गया। जनता को दोनों ओर के समाधान मिले। एक की भाषा में अपनी ही निज की असली मान्यता को छिपाने की चानुरी और तज्जनिव वक्रता बोल रही थी और दूसरे की भाषा में सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में एकदम सरलता थी। निर्भीकता थी। आचार्य देव सिंह की भांति गरजते, विद्वानों की भांति प्रमाण देते, तार्किकों की तरह अकाट्य तर्क उपस्थित करते और चिन्तकों की तरह गहरे चिन्तन का प्रकाश करते।

विस्मय की बात है कि जो अपनी मान्यताओं को इतनी हीनकोटि की समझते हैं कि उन्हें सही और स्पष्ट रूप में जनता के सामने प्रकट भी नहीं कर पाते, वे स्वयं उन मान्यताओं से कैसे चिपटे हैं? जो अपने मन्तव्य को सत्य समझता है, वह लाखों और करोड़ों में छाती ठोक कर उसे प्रकट करता है और यदि उसमें विशेष योग्यता हो तो उन्हें प्रमाणित करने की चुनौती देता है। जिसे अपनी मान्यता की सच्चाई पर पूरा पूरा विश्वास होगा, वह दूसरों के पृच्छने पर अपनी मान्यता क्यों छिपाएगा? अगर कोई छिपाता है तो मानना पड़ेगा कि वास्तव में वह खुद ही अपनी मान्यता पर श्रद्धा नहीं रखता।

किन्तु अपने निहित स्वार्थों में बाधा पड़ने के कारण अपनी आन्तरिक अश्रद्धा को जनता के सामने प्रकट भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तियों की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। उन्हें गोलमोल बातें कह कर अपना पिण्ड छुड़ाना पड़ता है। यही कारण था कि दया और दान को पाप मानने वाले आचार्य अपनी मान्यता साफ-साफ प्रकट भी नहीं कर सकते थे और उसे अस्वीकार भी नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें लौकिक धर्म, लौकिक पुण्य आदि शब्दों के आवरण में अपनी असली मान्यताएँ छिपानी पड़ रही थीं।

जैनागमों में ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि दश प्रकार के धर्मों का विधान किया गया है। गृहस्थधर्म और साधुधर्मकी मर्यादाओं का भी भगवान् ने निर्देश कर दिया है। मगर पाप, पाप ही है और पुण्य पुण्य ही है, चाहे साधु हो अथवा गृहस्थ हो पुण्य और पाप का स्वरूप तो पलट नहीं सकता।

पाप को लौकिक धर्म या लौकिक पुण्य की कल्पित संज्ञा देकर जनता को भ्रम में डालना किसी प्रकार उचित नहीं है।

कई दिनों तक की अनियमित-सी चर्चाओं के पश्चात् एक दिन दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों में लिखित शास्त्रार्थ हुआ। मध्यस्थता के लिए दिल्ली के प्रतिष्ठित सज्जनों की एक समिति बनाई गई। उस चर्चा का सही चित्रण 'दिल्ली-चर्चा' नामक पुस्तक में किया गया है। इस प्रकार की चर्चाएँ उनके लिए तो लाभदायक नहीं होती जो अपने मत के प्रति आग्रहशील हैं;

परन्तु जो सत्यको सर्वोपरि मानते हैं, सत्य भगवान् की आराधना को परम पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं और जो सत्य की वरदायिनी छाया में ही अपना कल्याण समझते हैं, उनके लिए अवश्य ही लाभप्रद सिद्ध होती हैं। इसीलिए कहा गया है—
'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।'

तत्त्वचर्चा में भाषा संबंधी झल कभी आड़े नहीं आना चाहिए। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे पड़ोसी सम्प्रदाय ने कभी सरलता के साथ अपना स्पष्टीकरण उपस्थित नहीं किया। भाषा का जाल फैला कर अपने उत्तरों की अपूर्णता को छिपाने का प्रयत्न करने के कारण वह चर्चा यद्यपि किसी किनारे तक नहीं पहुँची, तथापि तटस्थ जिज्ञासु जनों को यथार्थता का पता अवश्य चल गया।

दिल्ली-चातुर्मास

पूज्यश्री की इच्छा अलवर में चातुर्मासकाल व्यतीत करने की थी। आप दिल्ली से अलवर की ओर चल भी पड़े। मगर कांधले के धर्मप्रेमी भाई मचल गये कि कांधले ले जाए बिना हम अलवर नहीं जाने देंगे। इस प्रेमपूर्ण आप्रह को टालना आपके लिए संभव न हो सका। कार्यक्रम में परिवर्तन करना पड़ा।

आचार्य महाराज ने जब कांधले की सीमा में प्रवेश किया तब वहाँके भाइयों के चेहरे हर्ष से खिल रहे थे। श्रीसंघ में उस्ताह का सागर हिलोरें मार रहा था। धर्मप्रेमी श्रावक अपने मानसिक मोद को मोदकों के वितरण के रूप में प्रकट कर रहे थे। उस वितरण में कोई भेदभाव नहीं रक्खा गया। मनुष्य, पशु, श्वान, अश्व, रासभ, बलीवर्द, महिष और मार्जार—सभी को मोदक मिल रहे थे। सारा शहर एक अनोखी चहल-

पहल से उल्लासमय हो रहा था; क्योंकि आचार्य श्री गणेशी-लालजी महाराज का कांधले में पदार्पण हो रहा था।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व अनूठा और आकर्षक था। बाणी का माधुर्य, ब्रह्मचर्य का तेज, धर्म की अखण्ड साधना, संयम की प्रखरता और जीवन की ओजस्विता – सभी कुछ तो था आपके व्यक्तित्व में! फिर कांधले की जनता अगर आपके दर्शन को आराध्य देव के साक्षात्कार की तरह मानने लगी तो अचरज की बात ही कौन-सी!

कांधले से आपको मनुहारों के पलक-पाँवड़ों पर चलना तो पड़ा, मगर भागे में मूत्रकृच्छ्र रोग ने अत्यन्त गहरा आक्रमण कर दिया। सहसा और सर्वथा पेशाब बन्द हो जाना शरीर के लिए बड़ा खतरनाक है। मार्मिक पीड़ा, शरीरशिथिलता और मानसिक विकलता, इस रोग के अवश्यभावी परिणाम हैं। डाक्टर पहुंचे। जनता पहुंची। श्रावकों का जमघट हो गया। रतलाम, व्यावर और बीकानेर आदि के श्रीसंघ भी पहुंच गये! सब के मन उदास और विषादपूर्ण थे। आचार्यश्री को अचानक रोगग्रस्त देख कर लोगों के हृदय बेचैन हो रहे थे।

मनुष्य की सुकुमार जिन्दगी का भरोसा नहीं है। पानी के बुलबुले के समान कब ढल जाय, कौन कह सकता है?

आचार्यश्री की शारीरिक स्थिति काफी गिर गई। चलना-फिरना बन्द हो गया। डाक्टरोंने मनाही कर दी। आखिर सन्तों ने अपने कंधों पर उठा लिया। उस समय सब के मन में

एक ही बात थी— किसी न किसी प्रकार दिल्ली पहुँच जाना चाहिए।

सन्त आपको उठा कर चले और कुछ दूर चले, किन्तु कंधों ने जबाब देना शुरू कर दिया ! वे पालकी के डंडों को परेशान होकर इधर-उधर बदलने लगे। महाराज समझ गये—मेरे शरीर का भार इन्हें कष्ट दे रहा है। सन्त स्वयं कष्ट सहन कर लेते हैं, किन्तु पर का कष्ट सहन करना उनके लिए कठिन होता है। परदुःखकातर और करुणामूर्ति सन्त खिन्न ही तब होते हैं जब दूसरे को छान्त देखते हैं।

महाराज बोले—सन्तो ! रुक जाओ।

सन्त रुक गये, समझे कोई शारीरिक आवश्यकता होगी। आप पालकी से नीचे उतर गये। सन्तों ने समझा, दैहिक शंका मिटानी होगी।

कुछ ही क्षणों में सन्तों ने देखा—महाराज मार्ग पर स्वयं पग रख कर आगे बढ़ रहे हैं। डाकर ने रोका, सन्तों ने अनुनय किया, श्रावकों ने आग्रह किया, मगर महाराज थे कि आगे ही बढ़ते गये ! एक ही उत्तर था उनका—मैं अपने शरीर के लिए दूसरों को कष्ट नहीं देना चाहता। सन्तों के कष्ट सहिष्णुता की यही तो विशेषता होती है कि वे अपना भार किसी दूसरे पर नहीं डालना चाहते।

देह में उग्र मूत्रकृच्छ्र का प्रकोप है। उत्कट वेदना है, फिर

भी स्वयं चल रहे हैं ! महात्माओं की सहनशीलता की कोई सीमा है ?

गनीमत यही थी कि दिल्ली दूर नहीं थी। जैसे-तैसे चार दिनों में पहुंच गये। बारहदरी (महाबोर भवन) जैन स्थानक में ठहर गये। चातुर्मास प्रारंभ होने में बहुत देरी नहीं थी। डाक्टरों ने एकमत होकर कह दिया था— ऑपरेशन के सिवाय कोई चारा नहीं है। यह रोग इसी प्रकार दूर हो सकेगा।

सदरबाजार के हकीम प्रेमचंदजी ही एक ऐसे चिकित्सक थे, जिन्होंने दावा किया कि वे ऑपरेशन के बिना ही रोग को दूर कर सकते हैं।

आचार्यश्री भी ऑपरेशन एसन्द नहीं करते थे। वह उस दोष से वचना चाहते थे। अतएव आपने कट हकीम प्रेमचंदजी की बात स्वांकार कर ली। उपचार चालू हो गया। कुछ दिनों में रोग का ह्रास हांसा आरंभ हुआ और शान्ति मिलने लगी।

आपका वह दिल्ली-चातुर्मास अपनी अनोखी छटा को लिये हुआ था। स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के चातुर्मास के पश्चान् महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक चौभासा आपका ही हुआ था।

जैन साधुओं का ठोस कार्य-संस्कार निर्माणात्मक होना है। वे आते हैं और अपने संयमपूर्ण और तपोमय जीवन से तथा उपदेश से एक अनोखा धार्मिक वायुमंडल निर्माण करके चले जाते हैं। बाहर से प्रतीत होता है जैसे कुछ भी नहीं हुआ। न

कोई विद्यालय बना, न गुरुकुल खुला, न औषधालय और न कोई धर्मभवन ही खड़ा हुआ। इस प्रकार वे जो निर्माण करते हैं, वह आन्तरिक होता है और उसकी नींव किसी भी भवन की अपेक्षा अधिक गहरी और दृढ़ होती है।

सूक्ष्म और गहरी दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही प्रतीत होगा कि जैन साधु जन-मानस पर कितना गहरा, कितना व्यापक और कितना सात्विक प्रभाव छोड़ गये हैं। मानव-जाति में सबल और व्यापक संस्कारों का निर्माण सन्तों की बदौलत ही हुआ है। जैन संत तो चलते-फिरते विद्यालय हैं-विश्वकोप हैं, तीर्थ हैं और विशुद्ध परामर्शदाता हैं।

मानवजाति के उत्थान में सन्तोंने जो योग दिया है, उसका इतिहास यदि लिखा जाय तो महान होगा परन्तु वह सदैव अधूरा रहेगा। उनके महान कार्यकलाप समग्रता के साथ कदापि अंकित नहीं किये जा सकते।

रोग का उदय

दिल्ली-चातुर्मास के पश्चात् अनेक स्थानों में विचरण करके आपने धर्मजागृति की। जो चौमासा अलवर में होना था, वह कारणवश दिल्ली में हो गया। इससे अलवर की धर्मप्रेमी जनता को बड़ी निराशा हुई। मगर उन्होंने हार न मानी। आगामी चातुर्मास की स्वीकृति आखिर प्राप्त कर ही ली।

इस प्रकार दिल्ली के पश्चात् आचार्य देव का चातुर्मास अलवर में हुआ। चातुर्मास के कुछ दिन बड़े आनन्द और उल्लास में व्यतीत हुए। मगर पुराना रोग फिर चेत गया। पहले जो चिकित्सा हुई थी, वह रोग की जड़ को नहीं उखाड़ सकी थी। अवसर मिला कि पुनः उसने अपने रंग दिखाना शुरू किया। वेदना और व्याकुलता उस रोग की सन्तान हैं। शैथिल्य और जीवनान्तक शोचनीय स्थिति उत्पन्न कर देना इस रोग का प्रतिफल है। साधु जीवन की समता और सहिष्णुता तो रही, मगर रोग नहीं दवा। वह तो बढ़ता ही चला गया।

श्रावकसंघ इस निश्चय पर अटल था कि ऑपरेशन करवाया जाय और व्याधि का मूल नष्ट कर दिया जाय। डाक्टरों का भी यही मन्तव्य था। वे कहते थे—ऑपरेशन न करवाया गया तो जीवन को खतरा है।

महाराज कहते थे—भोले भाइयो ! कर्मों की व्याधि का मूल कहीं इस ऑपरेशन से नष्ट होने वाला है ? कर्म व्याधि का मूल बहुत गहरा है। उसका उन्मूलन यह डाक्टर नहीं कर सकेंगे। हां, डाक्टर शारीरिक व्याधि को मिटाने में निमित्त हो सकते हैं। कर्म के मूल को उखाड़ने के लिए अन्तरात्मा को ही पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। उसमें पैठे हुए दोषजनक तत्त्वों को निकाल कर फेंकना होगा। अतएव इस ऑपरेशन के बिना ही अगर काम चल सकता हो तो चला लेना चाहिये।

श्रीसंघ ने गंभीरता से विचार किया। डाक्टरों की सम्मति निश्चित थी, अतएव सर्वसम्मति से श्रीसंघ ने यही निर्णय किया कि ऑपरेशन करवाया जाय। यह निर्णय आचार्य देव के समक्ष उपस्थित किया गया तो आपने भी वैसा ही उत्तर दिया जैसा आपके गुरुदेव पूर्ववर्ती आचार्य श्री जवाहरलालजी म० ने भीनासर में दिया था। उन्होंने कहा था—‘यह शरीर मेरा नहीं, श्रीसंघ का है। श्रीसंघ की जां इच्छा हो, वही कर सकता है। मुझे अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहना है।’

श्रीसंघ के लिए श्तना ही पर्याप्त था। उसने ऑपरेशन करवाने का अन्तिम निश्चय कर लिया।

आचार्य महाराज की कितनी महानुभावना है कि आप स्वयं ऑपरेशन के पक्ष में न होने पर भी श्रीसंघ के आप्रह के समक्ष झुक गये ! आपने डाक्टरों की इच्छा का तिरस्कार नहीं किया ।

ऑपरेशन का समय निश्चित हो गया । ऑपरेशन के लिए सुप्रसिद्ध शल्यचिकित्सक डाक्टर मुलगांवकर की सेवाएँ उपलब्ध कर ली गईं । श्री भीकमचंदजी भणसाली की बड़ी उत्कट इच्छा थी कि इस सेवा का समस्त भार वह वहन करें । श्रीसंघ ने उनकी उत्कृष्ट भावना देख कर उन्हीं को वह अवसर प्रदान किया ।

अन्ततः आपरेशन का दिन आ पहुँचा । आचार्य महाराज जब आपरेशन के लिए जाने लगे तो एकदम विलक्षण वातावरण बन गया । उस समय बाहर ही नहीं, लोगों के हृदय में भी गहरी और विषादमयी निस्तब्धता व्याप्त थी । सबके चेहरे उदास थे, चिन्ताकुल थे और उत्सुकता से परिपूर्ण थे ।

उस समय आचार्यश्री की गंभीरता दर्शनीय थी । ऐसा जान पड़ता था कि उनके मुखमण्डल पर कोई चिन्ता अथवा व्याकुलता का भाव नहीं है; सिर्फ अपने शिष्यमण्डल की उदासीनता के कारण वे करुणापूर्ण हो उठे हैं ।

आपने संघ के समक्ष आत्मनिवेदन प्रकट करते हुए ऐसे भाव फरमाये कि—“मुझे जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह सब गुरुदेव का प्रसाद है और समाज के सहकार का प्रतिफल है ।

मैं गुरुदेव और समाज का ऋणी हूँ। मैं यथाशक्य संघ की गुरुतर जिम्मेवारी को बफादारी से निवाहता आया हूँ। आज इस आकस्मिक बीमारी ने मुझे विवश कर दिया है। मैं ऑपरेशन करवाना नहीं चाहता था, किन्तु संघ के निर्णय और अनुरोध के आगे विवश हो गया हूँ। अस्तु, ऑपरेशन का समय आ चुका है, अतएव मैं संघ के समक्ष यह निवेदन प्रकाशित कर देना आवश्यक मानता हूँ कि जब तक आलोचना और प्रायश्चित्त करके मैं शुद्धि न कर लूँ तब तक मुझे कोई बंदना न करे।”

जैनधर्म अपने उत्कट त्याग के बल पर चमक रहा है। जीवन में साधना और उत्सर्ग की ज्योति जब तक जग रही है, तभी तक साधक पूजनीय है, अन्यथा नहीं। आचार्यश्री के उल्लिखित शब्द जैनधर्म की इसी त्यागप्रधान प्रकृति के प्रतीक हैं। उनमें हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति थी और जैनशासन की पावन परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने की उत्कट अभिलाषा। आत्मनिवेदन के शब्दों में सन्तजनोचित उच्च कोटि के औदार्य का दर्शन होता है और उसमें वस्तुस्थिति का वास्तविक चित्रण है।

संघ ने आचार्य देव के यह शब्द सुने तो अवश्य, किन्तु हृदय थम न सका। अधिकांश श्रोताओं के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

जनता अपने जीवननिर्माता और संघविधाता के स्वास्थ्य संबंधी शुभ संवाद को सुनने के लिए आतुर और लालायित

थी। पूज्यश्री ऑपरेशन-रूम में पदार्पण कर चुके थे। बाहर जनता का टहल लगा था। सभी उत्सुक, बेचैन, व्याकुल और संतप्त थे। कब्र डाक्टर जनता को शुभ संवाद सुनाता है। यही सब सोच रहे थे। पल-पल भारी हो रहा था। आखिर डाक्टर ने बाहर आकर कहा—

“महाराजश्री का ऑपरेशन सफल हो गया। तेरह तोले की गांठ काट कर बाहर निकाल दी गई है। आश्चर्य है कि महाराजश्री ने क्लोरोफार्म सुंघ कर बेहोश होना पसंद नहीं किया। उनकी मानसिक शक्ति अजेय है, संकल्पबल विस्मयजनक है। मैंने बहुत लोगों के ऑपरेशन किये और बड़े-बड़े सहनशील व्यक्ति भी देखे, किन्तु उतना शक्तिशाली और महिष्णु महापुरुष पहले कभी देखने में नहीं आया।”

डाक्टर के इन शब्दों ने सहसा सुधा का सिंचन-सा कर दिया। गंभीर और व्याकुल वानावरण यकायक हर्ष और उद्दाम में परिणत हो गया। भक्तों ने सन्तोष की सांस ली।

डाक्टर महाराजश्री की महिष्णुता देखकर चकित हुए। वस्तुतः महात्माजनों का हृदय दूसरों के लिए फूल-सा कोमल होता है तो अपने प्रति बर-सा कठोर।

ब्रह्मादपि कठोराणि, मृद्वनि कुसुमादपि।

लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति।

लोकोत्तर पुरुषों के चित्त को परखना बड़ा ही कठिन है

एक ओर वे वज्र के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं तो दूसरी ओर कुसुम से भी कोमल !

फिर हमारे चरितनायक ने तो उस संस्कृति के वायुमंडल में सांसं ली हैं, जो विधान करती है—

अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाश्चं ।

महात्मागण अपनी देह के प्रति भी ममता का भाव उत्पन्न नहीं होने देते । जिन्होंने काया को भी पराया समझ लिया और अपने शुद्ध आनन्दमय स्वरूप में अवगाहन कर लिया, उन्हें संसार की कोई भी घटना व्यथा नहीं पहुँचा सकती । जिनके सामने गजसुकुमार का उच्चतर आदर्श हो और जिन्होंने ऐसे महान् पुरुष को अपना आराध्य समझा ही, वे शारीरिक व्यथा से कब व्याकुल होने वाले थे ! पूज्यश्री त्याग, वैराग्य और निस्पृहता की कसौटी पर कंचन सिद्ध हुए ।

महाराजश्री ने आपवेशन होने के बाद आपवेशन में जो दोष लगा उसकी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण किया ।

संगठन की ओर

राजनीतिक आधार पर खड़ी की गई संस्थाएँ संकट के समय मतभेदों को दूर करके अक्सर मिल जाया करती हैं, किन्तु धर्म और विचार के आधार पर स्थित सम्प्रदाय विचारों के किंचित् भी अन्तर रहने पर मिलने को उद्यत नहीं होते।

संसार में ऐसे युग पुरुष बहुत कम पैदा हुए हैं, जिन्होंने धार्मिक सम्प्रदायों के आचार्य पद का परित्याग करके सामाजिक एकता के मंच-निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया हो।

धर्माचार्य संयम के परिपालन के निमित्त बड़े से बड़ा उत्सर्ग कर सकता है, किन्तु विचारपरक जरा सी भी भिन्नता जब आड़ी आ जाती है तो वह अपनी साधर्मिक सम्प्रदाय से भी मेल करने के लिए तैयार नहीं होता। मगर स्थानकवासी सम्प्रदाय इस नियम का अपवाद है। स्वयं आचार्य श्री गणेशीलालजी म० ने, जिन्हें साम्प्रदायिक नियमों का कट्टर पोषक

समझा जाता है, संघ-ऐक्य के निर्माण में अपना सम्पूर्ण योग देने का आश्वासन दिया। आपने संघ की एकता के लिए अपनी आचार्य पदवी का परित्याग कर देने की भी स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी। यद्यपि उस समय मारवाड़ के अन्य अनेक आचार्य और अन्य पदवीधारी सन्त सांघिक स्थिति को उचित नहीं मान रहे थे, परन्तु आप संघ की एकता के निमित्त आदि से अन्त तक कटिबद्ध रहे। क्षण भर के लिए भी कभी आपके अन्तःकरण में आचार्य पद के प्रति अनुराग का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार का आदर्श निरीहभाव विरला ही कहीं देखा जाता है। इस दृष्टि से भी आप असाधारण सन्त हैं।

वास्तव में देखा जाय तो संघ-एकता के वातावरण में प्राणों का संभार करने वाले आप ही थे। अलवर-चातुर्मास के समय ही आपने समाज के सामने अपना एक वक्तव्य उद्घोषित किया था, जिसमें साधु-संगठन की योजना का पूर्ण समर्थन किया गया था।

आपका वक्तव्य प्रकाशित होते ही स्थानकवासी सम्प्रदायों में एकता, सम्प्रदायविलीनीकरण और संघ-निर्माण की योजनाओं पर जोरदार चर्चा प्रारंभ हो गई थी। बहुत से आचार्यों के मन में सभी सम्प्रदायों के विलीनीकरण के विषय में और सर्वसम्मत ऐक्ययोजना के स्वीकृत हो सकने के संबंध में सन्देह था। बहनों को सैकड़ों वर्षों से चले आये सम्प्रदायों के विलीनीकरण का क्या परिणाम आएगा? वह अभीष्ट होगा अथवा

अनिष्ट होगा ? आदि-आदि अनेक प्रकार की आशंकाएँ थीं। वे एक साथ कोई बड़ा कदम उठाने के विरोधी थे। अतएव चाहते थे कि फिलहाल सम्प्रदायों की सत्ता बरकरार रहने दी जाय और एकता के बदले पारस्परिक संगठन किया जाय। यह संगठन परीक्षण के रूप में अस्थायी हो। जब यह परीक्षण समय पाकर परिपक्व हो जाय और एकता की आधारशिला निर्मित हो जाय, तब एकता की जाय। उनका मत था कि अभी ऐसा वातावरण निर्मित नहीं हो सका है कि समग्र स्थानकवासी एक ही आचार्य के आदेश और निर्देश में रह कर विचरें। इसलिए एकता का उग्र कदम उठाने के बदले संगठन के मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना ही समुचित होगा।

इस विचारधारा के विरुद्ध दूसरा सन्त वर्ग एकता का पूर्ण समर्थन करता था। उसका अभिप्राय था कि चारों ओर से एकता की प्रबल माँग हो रही है। एकता की कल्पनामात्र से आवश्यकसमूह हर्ष प्रकट कर रहे हैं। परिस्थितियाँ एकता की प्रेरणा कर रही हैं। जब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सत्ता रहेगी, तब तक पारस्परिक स्पर्धा और संघर्ष भी चालू रहेंगे। जब सम्प्रदायों में हमारी शक्ति बँटी रहेगी तो संगठन की बल कहाँ से मिलेगा ? इसके अतिरिक्त एकता के लिए उठाया गया कदम आकस्मिक नहीं; वह तो पूर्वविचारित है। एक बार अजमेर में हमारे महान् महारथी मिल चुके हैं। हम दूसरी बार मिल रहे हैं। अगर हर बार वातावरण के नान पर हम कोई

उपयोगी और क्रान्तिकारी कदम उठाने से हिचकते रहे तो कभी भी एकता के लक्ष्य को प्राप्त न कर सकेंगे।

और वातावरण ? वह स्वयं तो निर्मित होता नहीं, देवता आकर भी उसका निर्माण नहीं करते। हमारे मन का सुदृढ़ संकल्प और हृदय की उदार भावना ही वातावरण का निर्माण करती है। अतएव यदि हम संघ की सेवामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की अभिवृद्धि हेतु अपनी समस्त महत्त्वाकांक्षाएं समर्पित करने को उद्यत हैं और विराट् संघ के उत्कर्ष में ही अपना उत्कर्ष मानने को तैयार हैं तो कोई कारण नहीं कि हम एकता के लिए भविष्य की प्रतीक्षा करें। जो कर्त्तव्य हमारा है, वह हमें करना चाहिए। उसका भार अगली पीढ़ी पर डालना उचित न होगा। हमें पथ का निर्माण कर देना चाहिए जिससे भविष्य के मन्त उसपर सकुशल अग्रसर हो सकें।

वे कहते थे—साम्प्रदायिक भेदभाव के विषाक्त फल हम खूब चख चुके हैं। चखते-चखते संघशरीर दूषित हो चुका है। यही अवसर है कि उसे संघमी जीवन की एकता की मुष्ठा पि्ला कर पुनः स्फूर्तिमथ और सजीव बनाया जाय। यदि इस बार भी हम उदारता प्रदर्शित करके एकता का निर्माण न कर सके तो श्रावकवर्ग में उग्र प्रतिक्रिया होगी।

इस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान चल रहा था। मन्मथ हो रहा था। आचार्य श्री अपने उदार विचारों पर आरूढ़ थे। संघ की एकता के लिए संयम व सिद्धान्त के सिवाय

अन्य सभी कुल्ल उत्सर्ग कर देने की आपकी तैयारी देख कर जनता में आशा और उत्साह की लहर उठ खड़ी हुई थी।

उधर अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फरेंस के कार्य-कर्त्ता सम्मेलन की भूमिका तैयार करने में संलग्न थे। उनका प्रयास सफल हुआ और सादड़ी मारवाड़ में २२ सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ।

स्थानकवासी जैन कान्फरेंस का बारहवाँ अधिवेशन भी उसी अवसर पर सादड़ी में ही हो रहा था। उधर भारतवर्ष के विभिन्न भूभागों में विचरण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि मुनिवर तथा अन्य सहयोगी श्रमण बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

यथासमय शुभ मुहूर्त में साधु सम्मेलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। नाना प्रकार की चर्चाएँ और वार्त्ताएँ हुईं। प्रारंभ में ही आचार्यवर्य श्री गणेशीलालजी म० शान्तिरक्षक के रूप में निर्वाचित किये गये। साथ ही आपकी सहायता के लिए प्रसिद्धवक्ता श्री मदनलालजी महाराज भी शान्तिरक्षक चुने गये। दोनों चुनाव सर्वसम्मति से हुए।

सम्मेलन में बहुत अच्छे ढंगसे विचार करने के बाद मुनियों की पार्लियामेंट जब संघ-ऐक्य-योजना के विषय में सहमत हो गई तो प्रश्न उठा—समस्त स्थानकवासी जैन संघ का आचार्य किसे बनाया जाय ? शताब्दियों से बिखरा समाज, पृथक्-पृथक् आचार्यों के निर्देश में चलने वाला साधु समुदाय और भिन्न-

भिन्न संघों के सम्पूर्ण सत्तासम्पन्न आचार्य किसी एक आचार्य के अनुशासन में आवें ?

एकता को योजना की स्वीकृति कठिन थी, पर आचार्य-निर्वाचन की समस्या उससे भी अधिक कठिन थी। प्राचीन और नवीन विचार परस्पर टकरा रहे थे। सब के मन में एक ही समस्या थी कि कौन ऐसा महानुभाव निर्वाचित किया जाय जो समग्र संघ का योग्यतापूर्वक संचालन कर सके ?

उस समय का वातावरण और भी मार्मिक हो गया जब समाज के उच्च कोटि के संतों—आचार्यों, उपाध्यायों और प्रवर्त्तकों ने अपनी-अपनी पदवियाँ संघ को समर्पित कर दीं। हमारे चरितनायक आचार्य महाराज का आचार्यपद समर्पित कर देने का प्रतिज्ञापत्र सबसे पहले प्राप्त हुआ। साथ ही पंजाब के आचार्य श्री आत्मारामजी म० का आचार्यपद परित्याग का पत्र और संघकेय योजना के अनुसार व्यवहार करने का विश्वासमय दृढ़ संदेश सुनाया गया। संदेश क्या था, एकता की लहर पैदा कर देने वाला तूफान था।

उस समय सब प्रमुख प्रतिनिधि संतों के विचार के केन्द्र बने हुए थे—आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज। चहुँ ओरसे आवाज आई—पूज्य गणेशीलालजी म० को समूचे श्रमणसंघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया जाय। समस्त प्रतिनिधियों की ओर से स्वीकृति का स्वर गूँज उठा।

तब पूज्य श्री गणेशीलालजी म० ने अतीव मार्मिक शब्दों

में, साधुसमुदाय के समक्ष आत्मनिवेदन उपस्थित करते हुए कहा—‘मेरा शरीर वैसा नहीं रहा, जैसा कि जवानों का होता है। मैं वृद्ध हो चला हूँ और रुग्ण भी रहता हूँ। आप वृहत् श्रमणसंघ का महान् उत्तरदायित्व मुझ पर डाल रहे हैं, आपके इस विश्वास का मैं आभारी हूँ, किन्तु उसे उठाने में मैं अपनी कठिनता अनुभव कर रहा हूँ। अतः यह उत्तरदायित्व किसी अन्य योग्य, ज्ञानवृद्ध और उत्कट संयमी महात्मा को सौंपा जाय तो मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी।’

पूज्य श्री की इस उदारता और महानुभावता ने एक सुन्दर और स्तुहणीय वातावरण निर्माण किया। सन्त आपकी उत्कृष्ट त्यागशीलता देख श्रद्धाभाव से भूरि-भूरि आपकी प्रशंसा करने लगे। उसी समय समाज के संगठनशिल्पी श्री सौभाग्यमलजी म० बोले—‘मेरी इच्छा है कि भारतविख्यात, ज्ञानवृद्ध, वयो-वृद्ध और जैनागमों के प्रकाण्ड पण्डित श्री आत्मारामजी महाराज को आचार्यपद प्रदान किया जाय और संघ के अनुशासन एवं संचालन का उत्तरदायित्व आचार्य श्री गणेशीलालजी म० को सौंपा जाय। श्री आत्मारामजी म० आचार्य पदवी से और श्री गणेशीलालजी म० उपाचार्य पदवी से विभूषित किये जाएँ। इस प्रकार की योजना संघ के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी।’

यह विकल्प सभी प्रतिनिधि मुनियों को पसंद आया और सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

सादड़ी-सम्मेलन के बाद

स्थानकवासी साधुसंघने सादड़ी में संगठन और क्रान्ति का जो महास्वर उद्बोपित किया था, उसके सेनानी और संचालक उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज थे। व्यक्ति की वास्तविक महत्ता पद के आधार पर नहीं, अपितु उसकी आन्तरिक सद्बृत्ति और विराट् एवं भव्य अन्तरात्मा के आधार पर ही प्रतिष्ठित होनी है और वही जगत के लिए वरदान बनती है।

स्थानकवासी साधुसमाज सम्प्रदायों की पृथक्-पृथक् पंक्तियों में विभक्त था। उसकी मूलभूत मान्यताएँ, धारणाएँ, और उसके सिद्धान्त तथा आगम आदि एक होते हुए भी कट्टरता, प्रतिस्पर्धा एवं पार्थक्य भावना का विकास इतना गहरा हो गया था कि कतिपय सम्प्रदायों में आपस में वन्दन-व्यवहार तो दूर रहा, संभाषण करने का भी व्यवहार नहीं था। यह सद्दियों से चला आया भेद मिटा कर परस्पर में अपनेपन

की भावना का विस्तार करना तथा दीक्षावृद्धों को अपने ही गुरुजनों के समान वन्दन करना और उनका सत्कार करना कठिन कार्य हो गया था ।

उपाचार्यश्री जी ने इस संकोच को दूर करने का काम सर्व-प्रथम अपने ऊपर लिया । उन्होंने नये निर्माण के समय पुरानी रूढ़िगत परम्पराओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया । उस समय आपने जिस विनय, सेवावृत्ति, स्नेहशीलता, सौजन्य, शिष्टता और सद्भावना का परिचय दिया; फल यह हुआ कि सैकड़ों वर्षों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों में विभक्त सम्प्रदायों के सन्तों में अपनेपन का भाव उत्पन्न हुआ और समूचा समाज एक सुसंस्कृत एवं शिष्ट परिवार के रूप में परिणत हो गया ।

सोजत-सम्मेलन

सादड़ी-सम्मेलन में श्रमण संघ की संस्थापना हो चुकी थी; किन्तु इस नवनिर्मित संघ की व्यवस्था में दृढ़ता लाने के लिए विचार-विमर्श की आवश्यकता थी। उपाचार्य श्री ने सादड़ी से विहार कर उदयपुर में पदार्पण किया और वहीं चातुर्मास हुआ। चातुर्मास के समय मंत्री मुनि श्री प्यारचंदजी महाराज आपके साथ थे, जिससे पार्थक्य के रहे-सहे समाज के संस्कार दूर हो जाएं। इसी चातुर्मास में यह विचार किया गया कि मंत्रिमण्डल की एक बैठक होनी चाहिए जिससे संघव्यवस्था में रही हुई त्रुटियों का परिमार्जन किया जा सके और वैधानिक रूप से स्थायी संगठन के आदर्श की पूर्ति हो सके।

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोजत में मंत्रिमंडल का सम्मेलन आयोजित किया गया। मंत्रियों की बैठक हुई। सुलकर विचारविमर्श हुआ। सच्चित्ताचित्त निर्णय और ध्वनिवधेक यंत्र

को लेकर समाज में खूब ऊढ़ापोह चल रहा था। उसका समाधान होना आवश्यक था। नवीन और पुरातन विचारधाराओं में भी मेल बैठाना आवश्यक था।

दोनों ही विचारधाराओं के सर्वोच्च अंश ग्राह्य हैं। पुरानी विचारधारा में आदर्श और संयम-जीवन के प्रति जो तीव्रतर उत्कण्ठा रही हुई है, वह जैनत्व का प्राण है। नवी विचारधारा में अहिंसा और अनेकान्त के जगद्ग्यापी प्रसार की और युगतुकूल सुधार की भावना किसी भी सांघिक जीवन की चेतना का प्रमाण है। वास्तविक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण और संयममय जीवन का आदर्श, यह दोनों ही तत्त्व उपादेय हैं। जैन साधक के जीवन से इन दोनों तत्त्वों में से एक का भी ह्रास हुआ तो सभी कुछ भूमिसात् हो जायगा; यह तथ्य निर्विवाद है।

स्थितिपालकता, रुद्धिप्रियता, मानसिक संकीर्णता तथा साम्प्रदायिक आग्रहवृत्ति जैसे त्याज्य हैं; वैसे ही नास्तिकता-प्रतिष्ठासाह, कटुतापूर्ण आलोचकवृत्ति तथा आदर्शों के प्रति अश्रद्धा आदि दोष भी सांघिक जीवन के लिए अभिशाप हैं।

सोजत में दोनों धाराओं के गुणावगुणों के निरीक्षण का अच्छा अवसर उपस्थित था। उस समय उपाचार्यश्री की क्षमता और उदारता अनायास ही सबके सामने झलक रही थी।

उपाचार्यजी महाराज स्वयं पुरानी विचारधारा के महान् सन्त हैं। आदर्शों के प्रति आपका प्रगाढ़ स्नेह है। तप-त्याग ही

आपके साधक-जीवन का एकमात्र भोजन है। संयम ही आपके जीवन का श्वास है। युगानुकूल विचारधाराओं से आपका विरोध नहीं, द्वेष नहीं, सभी दृष्टिकोणों को भलीभांति समझने की एक सरल जिज्ञासा आपमें सतत विद्यमान है। इन पंक्तियों के लेखक के साथ कितनी ही बार विचारविमर्श हुआ है और पाया है कि नवीन विचारधारा के साथ आपकी मान्यता का पूर्णरूपेण संगति बैठना सरल नहीं, तथापि आपके मन की सद्गुता और विरोधी दृष्टिकोण को समझने की जिज्ञासा मन में असद्भाव नहीं उत्पन्न होने देती। आपसे वार्त्तालाप करने के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारों पर पुनर्निरीक्षण करने की इच्छा होती है। यही कारण है कि आपसे मतभेद रखने वालों में आपके प्रति मतभेद उत्पन्न नहीं होता।

निश्चित है कि व्यक्ति अपने विचारों को निष्ठापूर्वकस्वीकार करता हुआ भी यदि दूसरों के प्रति कोमल और सहानुभूतिमय दृष्टिकोण रख सकता है तो संघ का सर्वोच्च अधिकारी होने पर भी वह संघ-संगठन में बाधक नहीं हो सकता बल्कि साधक ही रहता है। अपनी इस उदारवृत्ति के कारण ही आप 'शान्तिदूत' और शान्ति के संदेशवाहक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

शान्तिदूत

सोजत-सम्मेलन के अनन्तर ब्यावर के श्रीसंघने आपसे प्रार्थना की—‘भंते ! हम पर भी कृपा कीजिए। ब्यावर का सामाजिक विरोध संघ-संगठन में चट्टान की तरह बाधक बन रहा है। आपकी स्नेहसुधा के सिंचन से ही वहां एकता स्थापित हो सकती है। अतएव हमारी प्रार्थना अंगीकार करके ब्यावर में पदार्पण कीजिए। हमारा पथप्रदर्शन कीजिए।

उपाचार्य श्री का हृदय नवनीत-सा कोमल है। आपने सोचा—ब्यावर में ईर्ष्या-द्वेष की आग धधक रही है और वहां से उठने वाली ज्वालामुखी आसपास के क्षेत्रों को भी संतप्त कर रही है। लोग कपाय से प्रेरित होकर व्यर्थ ही कर्मबंध कर रहे हैं। उनके चित्त में शान्ति स्थापित हो और संघ से द्वेष दूर हो जाय तो उत्तम होगा। यह सोच कर आपने ब्यावर-संघ की प्रार्थना स्वीकार कर ली और ब्यावर की ओर प्रस्थान कर दिया।

उपाचार्य श्री व्यावर नगर के बहिर्भाग में, एक उद्यान में ठहर गये। अन्दर पधारने वाले भाइयों से आपने कह दिया— जब आपके संघमें शान्ति स्थापित हो जायगी तभी हमारे संतों का नगर-प्रवेश होगा।

उपाचार्यजी म० का यह निर्णय व्यावर-संघ की शान्ति के निमित्त जादू का सा असर कर गया। संघ में शान्ति और समझौते का वायुमंडल बन गया और अन्त में शान्ति स्थापित हो गई। तभी आपका नगर-प्रवेश हुआ। उस समय व्यावर में अपूर्व उल्लास फैल गया था।

सामाजिक संघर्षों का अन्तिम समाधान अहिंसक समझौता ही है। संसार के युद्धों और लड़ाइयों का भी अन्त केवल अहिंसक भावना द्वारा ही आ सकता है।

उपाचार्य श्री व्यावर से जेटाणा की ओर चल रहे थे। रास्ते में थांवाला गाँव से कुछ ही आगे एक छोटा सा गाँव पड़ता है। वहाँ ४० घर राजपूतों के हैं। सारा गाँव अपरिचित था और जैनों का एक भी घर नहीं था। वहाँ आप श्री का एक प्रवचन हुआ। आपके भावमय और प्रभावशाली प्रवचन को सुन कर ग्रामवासी गद्गद् हो गये। उस प्रवचन का प्रभाव इतना गहरा हुआ कि ३५ व्यक्तियों ने शिकार खेलने का परित्याग कर दिया। जूआ खेलने, मद्यपान करने तथा तमाखू आदि नशीली चीजों के सेवन करने का भी त्याग किया।

सन्तों के सहज प्रेममय प्रवचन का जो अमृतपान कर लेता

है, वह सदा के लिए संतों का बन जाता है। संतों का अपना स्वार्थ क्या है? वे स्वात्म-कल्याण के साथ परहित में स्वहित मानते हैं। परोपकार को भी आत्मकल्याण की साधना का अंग समझ कर जगत् का कल्याण करते हैं। इस उदात्त भावना के कारण वे जगत् का महान् से महान् कल्याण करते हुए भी अहंकार का अनुभव नहीं करते। उन्हें यह गर्व नहीं होता कि उन्होंने दूसरों को उपकृत किया है।

संतों के जीवन की यही विशेषता रहती है कि उनमें पितृत्व, मातृत्व, भ्रातृत्व और मित्रत्व आदि जीवन के सहायक तत्त्वों को स्वाभाविक समावेश होता है।

संयुक्त चातुर्मास

भ्रमण करते-करते और देहातों में उपदेशामृत की वर्षा करते-करते उपाचार्य महाराज जब मेड़ता पहुंचे तो जोधपुर-संघ संयुक्त चातुर्मास की प्रार्थना लेकर आ पहुंचा ।

सोजत में, मंत्रिमण्डल की बैठक के अवसर पर ही यह विचार किया गया था कि संघ के तपःपूत और ज्ञानवृद्ध सन्तों को यदि एक ही स्थल पर लम्बे समय तक निवास करने का अवसर मिले तो बहुत-सी सैद्धान्तिक, आगमिक एवं साम्प्रदायिक गुत्थियों को सुलभाया जा सकता है। विवादास्पद विषयों का तथ्यसंगत समाधान खोजा जा सकता है और साथ ही सन्तों में हार्दिक एकता की प्रतिष्ठा की जा सकती है। सन्निकटता का परिचय स्नेह की प्रगाढ़ता का प्रादुर्भाव करने में सहायक सिद्ध होगा। समाज में एकता का शीतल समीर प्रवाहित होगा। महान् सन्तों का विशुद्ध प्रेम समाज की धमनियों

में अमृत का संचार करने में सहायक होगा। इन्हीं आशाओं के साथ संयुक्त चातुर्मास की योजना निश्चित की गई थी।

इस संबंध में उपाचार्य श्री का कथन था कि संयुक्त चातुर्मास की कल्पना अच्छी है, किन्तु जब तक कोई ठोस योजना तैयार नहीं कर ली जाती, तब तक उससे पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता।

समूचे चातुर्मास के लिए एक योजना बनी। उपाचार्य श्री, प्रधानमंत्री श्री आनन्दऋषिजी म०, व्याख्यान-वाचस्पति श्री मदनलालजी म० कविरत्न श्री अमरचंदजी म०, पं० र० सहमंत्री श्री हस्तीमलजी म० आदि प्रवर सन्तों का जोधपुर में संयुक्त चातुर्मास हुआ। पण्डितरत्न श्री समर्थमलजी म० का चातुर्मास भी वहीं करवाया गया।

इस चातुर्मास में शास्त्रीय चर्चा हुई। विवादास्पद विषयों का मंथन हुआ। सामाजिक एकता का आधार सुदृढ़ बनाने के विषय में मंत्रणा हुई। उपाचार्य श्री जी की सूक्ष्म और हार्दिक उदारता ने सन्तों में साम्य बनाये रखने के लिए कड़ी का काम किया।

जोधपुर के इस चातुर्मास से जितने लाभ की आशा बाँधी गई थी, संभव है उतना लाभ समाज को न हुआ हो, तथापि चार मास के विस्तृत अवकाश में, सन्तों में पारस्परिक प्रीति-भाव में जो वृद्धि हुई, वह भी कोई साधारण बात नहीं थी।

सब ने सहानुभूति के साथ एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ लिया और उसपर उदारतापूर्वक विचार किया ।

इस अवसर पर समाज के महारथी सन्तों ने उपाचार्य श्री महाराज के हृदय में बसी हुई कोमलता, परहितवृत्ति, परदुःख-कातरता और सेवाभावना आदि विशिष्टताओं का साक्षात्कार किया ।

एक बार कविवर्य श्री अमरचंदजी महाराज ने कहा था—
‘उपाचार्य श्री का व्यक्तित्व भले ही ऊपर से लोहवत् कठोर दिखाई देता हो, किन्तु जिन्होंने उन्हें निकट से देखा है, उन्हें तो अन्तर में कोमलता ही दिखलाई दी है।’ वास्तव में यही महापुरुष का लक्षण है । ठीक ही कहा है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूति कुसुमादपि ।

लोकोत्तराणं चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

लोकोत्तर पुरुषों के चित्त को पहचानना बड़ा कठिन कार्य है । एक ओर उनमें वज्र से भी अधिक कठोरता प्रतीत होती है तो दूसरी ओर उसमें फूँटसे भी अधिक कोमलता भी होती है ।

आचार्य और उपाचार्य का औदार्य

जोधपुर-चातुर्मास के अनन्तर पाली पधारने के पश्चात् कुचेरा में आपका पदार्पण हुआ। उस समय बृहत्साधु सम्मेलन का पुनः आयोजन करने के लिए कान्फरेंस की ओर से दौड़धूप हो रही थी। सम्मेलन करना तो निश्चित हो चुका था, परन्तु किस जगह किया जाय, यह निश्चित नहीं हो सका था। स्थान निश्चित करने के लिए कुचेरा में कान्फरेंस की जनरल कमेटी की बैठक बुलाई गई। कान्फरेंस के शिष्टमंडल ने उपाचार्य श्री की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन किया—भगवन्! आगामी बृहत्साधु सम्मेलन के लिए कौन-सा स्थल उपयुक्त होगा ?

उपाचार्य श्री ने फर्माया—जोधपुर में सम्मेलन के स्थान के विषयमें भी विचारविनिमय किया गया था। वहाँ यह विचार चला था कि इस बार का सम्मेलन आचार्यदेव के चरणों में होना चाहिए। अतएव मेरे विचार से लुधियाना नगर सम्मेलन के लिए उपयुक्त स्थल है। चाहे मैं पहुँचू या न पहुँचू।

कान्फरेंस की ओर से लुधियाना-संघ को पत्र लिखा गया। लुधियाना-संघ ने सम्मेलन के लिए कान्फरेंस को आमंत्रण भेज दिया। इस प्रकार लुधियाना में सम्मेलन होना निश्चित हो गया।

इसी बीच कान्फरेंस के अध्यक्ष सेठ चम्पालालजी बांठिया गुरुदेव के दर्शन के लिए कुचेरा पहुंचे। वार्त्तालाप के सिलसिले में उन्होंने गुरुदेव से पूछा—‘भंते! आप लुधियाना पहुंच सकेंगे?’

उपाचार्य श्री—मैं चाहता हूं कि लुधियाना पहुंचूं। मगर पहुंचना तो इस शरीर से होगा। यह शरीर कुछ शिथिल हो रहा है। घुटनों में दर्द और पैरों में पीड़ा रहती है। संभव है, इतना लम्बा विहार करना शक्य न हो। फिर भी आचार्य श्री के चरणों में मेरी ओर से कुछ सन्त पहुंच ही जाएंगे।

अध्यक्ष को यह परिस्थिति विचारणीय प्रतीत हुई। उन्होंने मंत्री-मुनिवरों की सेवा में सूचना भेजी और सारी परिस्थिति सामने रखी। साथ ही पथप्रदर्शन की प्रार्थना की कि—हमें क्या करना चाहिए और सम्मेलन कहाँ करना चाहिए?

उधर आचार्य श्री के चरणों में भी शिष्टमंडल पहुंचा। उसने प्रार्थना की—‘भगवन्! उपाचार्य महाराज शरीर के कारण आपकी सेवा में उपस्थित होनेमें असमर्थ हैं। वह सम्मेलन में सम्मिलित न हो सकें तो क्या करना उचित होगा?’

आचार्यदेव भी भद्रभाव की प्रतिमूर्ति हैं। उन्होंने फर्माया—

आज तक सम्मेलन का संचालन सफलता के साथ उपाचार्य श्री करते आये हैं। अतएव सम्मेलन में उनकी उपस्थिति आवश्यक है। साधु-सम्मेलन करना एक गुरुतर कार्य है। अतएव उपाचार्य श्री जहाँ भी सुगमतापूर्वक पहुंच सकते हों, वहीं सम्मेलन होना चाहिए। मैं स्वयं नहीं पहुंच सकूंगा तो मेरी सद्भावनाएँ अवश्य वहां रहेंगी।

इस प्रकार उपाचार्य श्री ने आचार्य महाराज की और आचार्य महाराज ने उपाचार्य श्री की उपस्थिति में सम्मेलन करने का विचार व्यक्त किया। यद्यपि दोनों महापुरुषों की उपस्थिति सम्मेलन में नूतन चेतना का संचार करती और संगठन को अपूर्व बल प्रदान करती, मगर दोनों की वृद्धावस्था और शारीरिक दुर्बलता से ऐसा होना शक्य नहीं था। किन्तु सम्मेलन के आयोजकों के समक्ष एक जटिल समस्या उत्पन्न हो गई। आखिर सम्मेलन करना आवश्यक है, मगर करें तो कहाँ करें ?

अन्ततः मंत्री मुनिवरों के निर्णय पर बात छोड़ दी गई। मंत्री मुनियों ने उपाचार्यश्री जी की उपस्थिति समझी। उन्होंने सोचा—आचार्यदेव अपने संघमें सम्माननीय स्थिति के स्वामी हैं और संघसंचालन और अनुशासन-पालन करवाने आदि का दायित्व उपाचार्य श्री का श्रमणसंघ संबंधी अनुभव भी मूल्य रखता है। ऐसी स्थिति में आचार्यदेव का आशीर्वाद प्राप्त करके उपाचार्य श्री के सान्निध्य में सम्मेलन करना ही उपयुक्त होगा।

पिछले तीन वर्षों में प्रेममय व्यवहार के कारण सन्तों के हृदय उपाचार्य श्री के विराट् व्यक्तित्व ने अपनी ओर आकृष्ट कर लिये थे। उपाचार्यजी म० सर्वतोभावेन सन्त-संगठन को सुदृढ़ बनाने में संलग्न थे। आपने श्रमणसंघ को समर्थ, शक्ति-शाली और सुदृढ़ बनाने के प्रयत्नों में कुछ भी कसर नहीं रक्खी थी। यही कारण है कि आप सभी सन्तों का हृदय जीतने में सफल हो सके।

गरल-पान

बीकानेर में उपाचार्यजी महाराज का चौमासा था। वहाँ की आवालवृद्ध जनता आपकी प्रेम-गंगा में डुबकियां लगा रही थी। प्रतिदिन सहस्रों नर-नारी आपके पावन प्रवचन-पीयूष का पान करके अपने जीवन को धन्य मान रहे थे। जिह्वासु जन सिद्धान्त की गूढ़ गुत्थियों को सुलभा रहे थे। सर्वत्र शान्ति का संचार हो रहा था।

समाज में सदा से कुछ विद्रसंतोषी लोग होते आये हैं। बीकानेर में भी ऐसे लोग विद्यमान थे। वे यह कुमंत्रणाएँ कर रहे थे कि यह शान्ति किस प्रकार भंग की जाय ? यह बना-बनाया खेल किस प्रकार बिगाड़ा जाय ?

मनुष्य के मन का पाप, पुण्य का परिधान धारण करके सदा मानवजाति को धोखा देता आया है।

जगत् में सर्वत्र सर्वदा इस प्रकार के लोगों की न कमी रही

हैं और न रहेगी। अलवत्ता इस पाप को नंगा करने के लिए सन्तों के पास एक ही अमोघ औषध है और वह है—क्षमा। क्षमा, क्षमता तथा सहिष्णुता के आगे पाप, घुराई, निन्दा-चुगली एवं आरोप-प्रत्यारोप टिके नहीं रह सकते। चार मास तक एक विघ्नसंतोषी, सन्तनिन्दक पापात्मा ने महाराजश्री की निन्दा की; उन्हें उपसर्ग दिये, कष्ट पहुँचाये, संयमविरोधी घृणित आरोप तक लगाये, फिर भी आप 'सागरवर मंभीर' भाव से महादेव की भाँति इस गरल का पान करते रहे। समानभाव से सबको प्रेमामृत पिलाते रहे। अन्त में उस सन्त-निन्दक को निन्दाजनित पाप, अबहेलना, जनता की घृणा और अन्तःकरण के पञ्चात्ताप की प्राप्ति हुई और उपाचार्य श्री को निर्मल स्वच्छ संयम, अश्रय यश तथा जनता की अटूट श्रद्धा प्राप्त हुई।

आज उपाचार्यश्री उस अनुपम सहिष्णुता के कारण अधिक श्रद्धेय हैं और वह व्यक्ति जनसमूह की निन्दा का भाजन बना हुआ है। संभव है, जब उसकी अन्तरात्मा में विवेक का उदय होगा, वह अपनी पापमय प्रवृत्ति के लिए पञ्चात्ताप करेगा, क्षमायाचना करेगा और अपनी मृदता को उद्धोषणापूर्वक स्वीकार करेगा।

वास्तव में अहिंसा के क्षेत्र में प्रेम का स्थान सर्वोपरि है। निन्दा से सुधार नहीं, बिगाड़ ही होता है।

भीनासर-सम्मेलन और उपाचार्यश्री

भीनासर का साधुसम्मेलन स्थानकवासी समाज में ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला सम्मेलन था। समूचे श्वा० जैन समाज के नैत्र उस सम्मेलन के परिणाम पर केन्द्रित थे और समूचा सम्मेलन उपाचार्यश्री जी की उदारता पर निर्भर था। ध्वनिवर्द्धक यंत्र के संबंध में वहाँ जो रस्साकसी चल रही थी, यदि उपाचार्यश्री की उदारता का बल न मिला होता तो संभवतः वही साधुसंघ दो भागों में बंट जाता।

उपाचार्यश्री ध्वनिवर्द्धक यंत्र का साधुओं द्वारा प्रयोग किये जाने या न किये जाने के सम्बन्ध में एक प्रबल और दृढ़ राय रखते हैं, फिर भी वे अपनी सभ्यता को आम्रह का रूप कदापि नहीं देते। इसी उदारवृत्ति का फल है कि वे आज भी इस विषय को पूरी तरह छानबीन के साथ जानने की जिज्ञासा रखते हैं। यद्यपि वे स्वयं उस यंत्र के प्रयोग के विरोधी हैं, फिर

भी आज तक संघ के शास्त्रानुसार निर्णय को स्वीकार करने के लिए सदा तत्पर रहे हैं। यह उनके व्यक्तित्व की विराट्ता का प्रबल प्रमाण है।

आज सांघिक शक्ति सर्वोपरि समझी जाने लगी है, यह समाज के उज्ज्वल भविष्य का द्योतक है। सम्राट् अकबर ने अपने दीन इलाही पंथ के दस महान् नियमों में, दूसरों के विचारों के प्रति अपने विचारों से भी अधिक सहानुभूति रखना महत्त्वपूर्ण बतलाया था। भगवान् महावीर के अनेकान्त-मार्ग में इमी उदाराशयता, परविचार सहिष्णुता एवं सर्वांश सत्य-प्राहकता के लिए ही मार्ग प्रशस्त किया गया है।

जगत् की विवादास्पद समस्याएँ तबतक सुलभ नहीं सकतीं, जब तक वैचारिक क्षेत्र में बौद्धिक अहिंसा-अनेकान्त की प्रतिष्ठा नहीं होती।

भीनासर-सम्मेलन आशानुकूल सफलता प्रदान न कर सका। इसका आन्तरिक एवं प्रधान कारण, मेरी दृष्टि में यह है कि व्यवहार के क्षेत्र में सर्वत्र अनेकान्तवाद का अवतरण अभी तक नहीं हो पाया है। सादड़ी से लेकर भीनासार तक जो सम्मेलन हुए, उनमें हमें उतनी ही सफलता मिली है, जितनी हममें अनेकान्त के प्रति निष्ठा थी। भविष्य के लिए भी सांघिक श्रेय-साधना की सफलता अनेकान्त की आधारशिला पर ही प्रतिष्ठित समझना चाहिए। ज्यों-ज्यों व्यक्ति के जीवन में अनेकान्त के प्रति निष्ठा बढ़ती जाएगी, उसका जीवन विराट्

और दृष्टिकोण उदार होता चला जायगा। वह परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों को समन्वय के ध्वर्णसूत्र में पिरोता चला जायगा। जहाँ समन्वय नहीं है और समझौते की गुंजाइश नहीं है, समझना चाहिए कि वहाँ अनेकान्त के लिए भी कोई अवकाश नहीं है।

असंदिग्ध रूपसे कहा जा सकता है कि उपाचार्यश्री सादड़ी-सम्मेलन से लेकर भीनासर-सम्मेलन तक महासमन्वय का पथ प्रशस्त करते रहे हैं। संभव है कि उनके दोनों ओर ऐकान्तिकता टकरा रही हो किन्तु वे उलझी हुई उद्बुद्ध चेतनाओं को समन्वय से भी आगे समीकरण की ओर उन्मुख करते रहे हैं। इस महान प्रयास के लिए स्थानकवासी समाज सदैव उनके प्रति कृतज्ञ रहेगा।

उपाचार्यश्री जी समाज, संघ, संयम और त्याग की प्रतिकृति हैं। उनका सौजन्य, उनका औदार्य और उनका निश्चल वात्सल्य भविष्य की पीढ़ियों के लिए नवजागरण का संदेश है और हमारे लिए पावन प्रेरणा का स्रोत है। श्रमणसंघ ऐसे पुण्यपुरुष को अपने नायक के रूपमें उपलब्ध कर फलेगा-फूलेगा, ऐसी आशा रखना संगत ही है।

व्यक्तित्वकी विशिष्टता

सस्मित किन्तु समस्वभाव

महान् पुरुषों की महत्ता कभी पद अथवा सिंहासनों की चमक से नहीं फलका करती। उनका वार्त्तालाप निर्मल की तरह निर्मल, मेघ की भाँति स्नेहपूरित, सागर के समान अगाध, प्रकाश के समान उज्ज्वल, भिस्त्री की नाई मधुर, नवनीत की तरह मृदु तथा माता के उलहने के समान मंगलकारी होता है।

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध, महात्मा गांधी तथा संत टाट्सटाय से वार्त्तालाप करके जिसने कभी आनन्द का अनुभव किया हो, वही इस रहस्य को सहसा समझ सकता है।

उपाचार्यश्री से चाहे कोई बच्चा वार्त्तालाप करे चाहे कोई महान् व्यक्ति, उनके संभाषण में, सस्मित मुद्रा से, सरलता के साथ, उत्तर तो मिलेगा ही; किन्तु साथ ही श्रोता को उनमें आत्मीयता और अनुभवशीलता का भी अपूर्व सामंजस्य प्रतीत होगा। वह सुनते-सुनते आनन्दविभोर ही उठेगा।

किसी सम्प्रदाय के आचार्य का बच्चों के साथ खुलकर वाचार्च करने का प्रसंग विरल ही मिलेगा; परन्तु हमारे चरित्रनायक बच्चों को बच्चों की भाषा में और वृद्ध को वृद्ध की भाषा में समझाने की अनूठी क्षमता से विभूषित हैं। यह क्षमता सहज रूप में ही उनमें पनपी है। उनमें कृत्रिमता खोजने पर भी नहीं मिल सकती।

सेवाभावना

महान् पुरुषों की महत्ता का रहस्य उनकी सेवा में निहित होता है। दुनिया के लोग भूल नहीं सकते कि गांधीजी को कोटियों की सेवा करने में, बड़े से बड़े साम्राज्य के अधिपतिसे आजादी की बात करने की अपेक्षा भी अधिक आनन्द का अनुभव होता था।

उपाचार्यश्री में भी यह एक महान् विशेषता है। उनका कोई अन्तेवासी या वृद्ध साधु रूप हो तो उसकी सेवा करते-करते दूसरे साधु कदाचित् अवा जाँ, ऊब जाँ, मगर आप सेवा से कभी विरत नहीं होते। आप स्वयं अपने हाथों से जब तक उसकी सेवा न करेंगे, सन्तोष न मानेंगे। सेवा करने में वे न वृथा का अनुभव करेंगे, न ग्लानि का और न थकावट का।

आचार्यप्रवर श्री जवाहरलालजी महाराज से लेकर छोटे से छोटे सन्त की सेवा करने में आपको वैसा ही आनन्दानुभव होता है जैसा आराधक को आराध्य के साक्षात्कार में।

योगासन और प्राकृतिक चिकित्सा

मानव जाति का स्वास्थ्य यदि रोगों ने नष्ट किया है तो अधिकांश रोगों को औषधियों ने जन्म दिया है। आत्महत्या करके या स्वयं जहर खाकर उतने लोग नहीं मरे हैं जितनों को दवाइयों की बलि-वेदी पर अपने प्राणों को उत्सर्ग करना पड़ा। जहर की अपेक्षा दवाओं के जहर ने अधिक कहर डाला है। चिकित्सा प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपनी करनी चाहिए। यदि यह संभव न हो तो योग्य वैद्य से परामर्श करना चाहिए। इस संबंध में हमारे चरितनायक का अनुभव अतीव मूल्यवान् है। उनका कहना है कि शरीर का सौन्दर्य और स्वास्थ्य उसे समरस बनाये रखने में है। बच्चा जब माँ का दूध पीता है तो न दूध में मीठा घोलता है, न दूसरे आस्वाद करता है, न घूमने जाता है, न व्यायाम-कुशती करता है। फिर भी बच्चे का सौन्दर्य, बच्चे की मस्ती और बच्चे का स्वास्थ्य कितना प्रिय और मनोहर होता है? बालक जगत् का सर्वाधिक मनोरम रूप है। इसका कारण यही है कि बच्चा दूध को पचाना जानता है। कभी उलटा लेट कर, कभी पैर फैला कर, कभी इधर-उधर करवट बदल कर और कभी अपने दोनों हाथों को गर्दन के रखकर, पैरों को पसारे रखकर बैठने का प्रयत्न करके स्वयं ही पिया हुआ दूध पचा लेता है। मगर जब वह बड़ा होता है तो बाल्यकाल में यह सब नैसर्गिक व्यायाम भूल जाता है और

फूल-सा सुकुमार देह रसनिस्तृत फल्लु के समान और तेजोहीन रह जाता है।

उपाचार्यश्री आज भी अपने अंगों में वही लचक और स्फूर्ति रखते हैं तो जवानी में किसी-किसी भाग्यवान् को प्राप्त होती है।

उनका दैनिक कार्यक्रम कितना ही उलझा हुआ क्यों न हो, वे शरीर के अंगों का कतिपय आसनों द्वारा अवश्य श्रम प्रदान करते हैं। ३० मिनट से लेकर ४५ मिनट तक उनका योगासनों का उपक्रम चलता रहता है। शीर्षासन, उत्तानपादासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन और मयूरासन आदि आसन आपको अधिक प्रिय हैं।

चिन्तनशील व्यक्ति को प्रतिदिन अपने शरीर और मस्तिष्क के मज्जातंतुओं को एवं सूक्ष्म शिराओं को आसनों द्वारा बल देना चाहिए, जिससे उसे आत्मशान्ति के लिए मानसिक शांति का भी सहयोग प्राप्त हो सके। मनकी एकाग्रताके लिए आसनसेवन की अत्यन्त आवश्यकता है। अगर मनुष्य ठीक तरह से सिद्धासन या महामुद्रासन लगा सके तो निश्चित है कि उसका मन कदापि चंचल नहीं हो सकता।

उपाचार्यश्री महाराज को जब कभी बात, पित्त अथवा कफजनित व्याधि का उदय होता है तो सर्वप्रथम आप उपवासचिकित्सा का अवलम्बन लेते हैं, जिससे रोग के बाह्य कारण के साथ-साथ अन्तरंग कारण (कर्म) का भी क्षय किया जा सके।

कदाचित् औषध का सेवन करना ही पड़े तो इस प्रकार की सामान्य काष्ठादि औषध लेंगे जिसके लिए बाजारों में अथवा डाकड़ों के यहाँ चक्कर न लगाने पड़ें।

वस्तुतः आज की चिकित्सा प्रणाली समाज के रोगी देह के लिए सफल सिद्ध नहीं हुई है। विजातीय द्रव्यों से भरी औषधि यदि एक रोग को निकालती भी है तो अनेक नये रोगों को पैदा कर देती है। उपाचार्यश्री जी जैसे महामना सत्तों के पथ का अनुसरण किया जाय तो तन, मन और धन की सुरक्षा के साथ स्वास्थ्य को भी सुरक्षित रखा जा सकता है।

दंड की ओट में प्रेम की शक्ति

गुरु और शिष्य का संबंध संसार के महत्त्वपूर्ण संबंधों में अन्यतम है। माता-पिता का रक्त जैसे पुत्र की रग-रग में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार शिष्य के जीवन के कण-कण में गुरु की शिक्षा, गुरु का दान और गुरु का अनुभव प्रेममय सहवास के द्वारा अभिन्न्याप्त हो जाता है। शिष्यत्व की सार्थकता यही है कि उसमें गुरुत्व विकसित हो उठता है और गुरु अपना सर्वस्व शिष्य में वपन करके अपने आपको अमरत्व प्रदान करता है। शिष्य अपने अविक्रमित गुरुत्व का अभ्युदय करके ही गुरु के ऋण से विमुक्ति पाता है।

माता-पिता का दायित्व गुरु के दायित्व की अपेक्षा लघुतर है, क्योंकि माता-पिता के हाथ में बच्चे का वह कोमल जीवन होता है जो किसी भी तरफ सहज रूप से ही मोड़ा जा सकता

हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता अपने बालक के लिए सांसारिक ऐन्द्रिय सुख-सुविधाएँ भी जुटा देते हैं, जो प्रायः मनुष्य को स्वभावतः प्रिय होती हैं। मगर गुरु का मार्ग और गुरु की जिम्मेवारी गुरुतर होती है। क्योंकि किसी जीवन में तत्त्वज्ञान और आध्यात्मिक जिज्ञासा की ज्योति जगा कर मुक्ति के शुष्क और कष्टकाकीर्ण मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होने की भूख जगा देना बहुत कठिन कार्य है।

एक गुरु में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उपाचार्य-श्री में उन सब का समावेश है। आप शिष्य को सद्गुणों की वृद्धि के लिए प्रोत्साहन और उद्दण्डता के लिए नियमन, दोनों ही करते आये हैं।

आपके पास कितने ही शिष्य और साधु आये और उनमें से कितने ही चले भी गये, परन्तु आपने न किसी पर मोह किया, न किसी से वृणा की। जो आत्मानुष्ठान में प्रवृत्त हुए, आपने उन्हें सहयोग दिया; थपकी दी।

अभिप्राय यह है कि जैसे आप स्वयं संयम और सदाचार में सुदृढ़ हैं; दृढ़ता के साथ चारित्र्य की परिपालना करते हैं, उसी प्रकार अपने अन्तेवासियों से भी दृढ़तापूर्वक चारित्र्य के नियमों का पालन कराना चाहते हैं। यदि किसी अन्तेवासी ने उन नियमोंके पालन में जरा सी भी त्रुटि की तो उसे आपको सहन नहीं। यही कारण है कि उपाचार्यश्री के निकट रहने वाले

शिष्यमंडली तप, त्याग और संयमी जीवन की आदर्श—प्रतीक समझी जाती है।

प्रत्येक शिष्य से उपाचार्यश्री जी की चार माँगें होती हैं—

१—आत्मोन्नति का इच्छुक हो।

२—विद्याभिलाषी, विनीत और सेवापरायण हो।

३—जिनधर्म और जिनागम का उद्योतकर्त्ता हो और संघमें एकता का मंत्र फूँकने वाला हो।

४—जन-जन के जीवन में त्याग, प्रेम, अहिंसा और अनेकान्त की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट हो।

उपाचार्यश्री को आलंकारिक में भाषा त्रिमूर्ति कहा जा सकता है। वह पहले-पहल रुक्ष तथा कटुक से प्रतीत होते हैं। मध्य में उपदेशक से और अन्त में मित्रवत् पूर्ण साथ देकर कल्याण-मार्ग की ओर ले जाने वाले भगवान से दिखाई देते हैं। यही उनके जीवन की रहस्यमयता है और यही उनकी जीवनगत विशेषताएँ हैं।

पुरातन की ओट में नव्य आलोक

उपाचार्यश्री जी महाराज की एक तस्वीर तो यह है कि वह पुरानी विचारधारा के सन्त हैं। उन्हें जो पहली बार देखता है, उसका खयाल होता है—संत बहुत तेजस्वी हैं; पुराने, वयोवृद्ध, अनुभवी, गंभीर, कठोर और मृदु भी हैं।

दूसरी कल्पना यह होती है—संभव है, वह बहुत पुराने

युग के प्रतीक हैं, क्योंकि उनकी मान्यताएँ, धारणाएँ और विवेचनाएँ आगम के प्रति श्रद्धा तथा परम्परा की प्रतीक हैं।

तीसरी कल्पना यह उठेगी कि वयोवृद्ध होते हुए भी वे पूर्ण-रूपेण खहर धारण करते हैं। उनका मुँहपत्ती और रजोहरण का वस्त्र भी खहर का ही होता है। वे क्रान्तिकारी भाषा का प्रयोग करते हैं। कृषिकर्म, गोपालन, देश की स्वतंत्रता, नारी जागरण, राष्ट्रधर्म के प्रति जागरूकता, हिंसाजनक व्यापारों का तीव्र निषेध, सादगी और सरलता आदि विषयों पर अधिकारपूर्ण भाषा में आगमानुकूल प्रकाश डालते हैं।

चौथी कल्पना यह उठेगी कि समाज के एक कर्णधार सन्त हैं। आपकी आज्ञा पर चलने वाले हजारों साधु-साध्वियाँ हैं, लाखों आपके अनुयायी हैं; आप उनके शास्ता, नियन्ता और संघटयवस्थापक हैं। वैधानिक उपाचार्य होने पर भी अत्यन्त उदार, विनम्र, मृदु और जिज्ञासु हैं।

प्रवचन के प्रारंभ में परमात्मा की प्रार्थना करते समय उनकी मनोहर मुख-मुद्रा निहारने वाले की अवश्य यह जान पड़ेगा कि उनका हृदय एक महान् भक्त संत का हृदय है। तन्मयता के साथ वे स्तुति गान करते हैं और उसी तन्मयता से उस पर विवेचना करते हैं। उस समय वे गद्गद हो जाते हैं। लगता है, जैसे परमात्मा के साथ उनकी आत्मा एकाकार हो गई है! वास्तव में वे श्रृण अतिशय धन्य हैं जिनमें भक्तगण उनके साथ भक्ति का अमृत पान करते हैं।

उपसंहार

इन सब कल्पनाओं में उपाचार्याश्री जी की झिलमिलती तस्वीर आपको देखने को मिलेगी। आप जैसे महान् व्यक्तित्व, विराट् स्वरूप तथा असीम कर्मठता के ज्योतिःपुंज महात्मा का सफल और सर्वांगपूर्ण जीवन चित्रण करना मेरी शक्ति से बाहर है। फिर भी अपनी आन्तरिक श्रद्धांजलि के रूप में एक अटपटा और संक्षिप्त सा रेखाचित्र अवश्य रख सकता हूँ। उपाचार्याश्रीजी के जीवनमें क्रांतिकी अजस्रवादिनी स्रोतस्विनी शिराएँ सदैव काम करती रही हैं। वे शान्त, भद्र और कर्मठ-शिल्पी हैं। उनके कर्तृत्व का युग उनकी मनोभावनाओं का सहल खड़ा करेगा। उनके अतीत के अनमोल अनुभवों की राशि संघ-नौका के सफल प्रयाण के लिए चक्षुओं का काम देगी। उनके व्यक्तित्व की विराट्ता और अगाध पंभीरता भावी पीढ़ियों के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह मार्ग को प्रशस्त करेगी।

उनका अतीत साधना से परिपूर्ण है, उनका वर्तमान संघ-शक्ति के लिए प्राणवत्ता का अक्षय कोश है और उनका भविष्य संघ और जगत के लिए शुभ प्रेरणा का कारण बनेगा।

इस अवनितल पर शताब्दियोंमें इस प्रकारके महात्माओंका अवतरण होता है। हमारा सद्भाग्य है कि हम उस युग में जी रहे हैं, जब हमारी पतवार एक मनस्वी और तेजस्वी संत उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चरद हस्त-कमलों में सुरक्षित है।



राम चमक रहे धातु समाना

₹ 25 /-



SADHUMARGI PUBLICATION

Shree Akhil Bharatvarshiya Sadhumargi Jain Sangh
"SAMTA BHAVAN" Acharya Shree Nanesh Marg.
Nokha Road, Gangasahar, Bikaner - 334401 (Rajasthan)
Tel. : 0151-2270 261/262/359
e-mail : absjsbkn@yahoo.co.in | www.sadhumargi.com